नई दिल्ली
रविवार, 22 मार्च, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-22 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

एक और यू टर्न बिना रिसर्च और जांच के ही सरकार बांट रही थी फोर्टिफाइड चावल, वापस लिया फैसला 5

श्रीलंकाई तमिल शरणार्थियों की सुध लेने वाला कोई नहीं 6

ईद उल फ़ितर का त्योहार अमन और दोस्ती का पैगाम एवं खुशहाली लाए, संडे नवजीवन की ओर से दिली मुबारकबाद!

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

फोटो: जेटी इमेजेज

वाशिंगटन में ईरान के खिलाफ ऑपरेशन एपिक फ्यूरी के दौरान हालात पर नजर रखते अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप

क्या कुछ हासिल इस युद्ध से?

अशोक स्वैन

अहंकारी और शक्तिशाली नेताओं की खासियत होती है कि एक विशेष प्रकार के रणनीतिक जाल में बार-बार फंसते ही रहते हैं। सीमित उद्देश्यों के साथ शुरू किया गया युद्ध शुरुआत में सामरिक सफलता तो हासिल कर लेता है, लेकिन समय के साथ उस एक लक्ष्य से ही परिभाषित होता है, जिसे वह हासिल नहीं कर पाता। वियतनाम के मामले में, यह हनोई में सरकार का पतन था। इराक में इसका मकसद एक मनमाफिक आज्ञाकारी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना थी। अफगानिस्तान में इसका मकसद तालिबान को एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उखाड़ फेंकना था। ईरान के खिलाफ मौजूदा अमेरिका-इसराइल युद्ध में, वह महत्वाकांक्षी लक्ष्य 'सत्ता परिवर्तन' है।

अपनी अत्यधिक शक्तिशाली मारक क्षमता के बावजूद, हमलावर इस्लामी गणराज्य को धराशाई करने में सफल नहीं हो पाए हैं। इसके विपरीत, उसने न सिर्फ और ज्यादा सख्त रुख अपनाकर अपनी स्थिति मजबूत की है, बल्कि विदेशी हमले के मद्देनजर राष्ट्रवादी भावना में आए उछाल से भी लाभ उठाया है।

युद्ध के प्रथम चरण को ईरानी नेतृत्व और उसके सैन्य ढांचे के खिलाफ अभियान के रूप में प्रस्तुत किया गया था और सर्वोच्च नेता अयातुल्ला अली खामेनेई की हत्या को निर्णायक प्रहार माना गया था। ईरान की प्रमुख कमान संरचनाओं को निशाना बनाया गया, उसके वैज्ञानिकों और सैन्य अधिकारियों को मार डाला गया, और उसकी कथित परमाणु सुविधाओं पर फिर से बमबारी की गई। संघर्ष के शुरुआती दौर में, यह तर्क भी संभव था कि अभियान मुख्य रूप से शासन के खिलाफ निर्देशित था।

लंबे समय से इस्लामी गणराज्य से नाराज कई ईरानियों को भी शायद शुरू में इन हमलों में उम्मीद दिखी होगी, उन्होंने हमले को उस सरकार के लिए एक सीधी चुनौती के तौर पर देखा होगा जिसने असहमति को दबाया और आजादी को सीमित किया। लेकिन यह भावना जल्द ही खत्म हो गई। युद्ध के पहले ही दिन, मीनाब में लड़कियों के एक प्राथमिक स्कूल पर हुए हमले में 186 छात्राएं और उनकी शिक्षिका मारी गईं। युद्ध जैसे-जैसे आगे बढ़ा, ट्रंप प्रशासन के लिए इसमें शामिल होने के कारण बदलते गए और उनकी लक्ष्य सूची में तेल संयंत्र, विलवणीकरण संयंत्र, नागरिक विमान और बुनियादी ढांचा, यहां तक कि यूनेस्को धरोहर स्थल तक शामिल हो गए। अब आम ईरानियों के लिए, यहां तक कि उनके लिए भी जो शासन से नफरत करते थे, स्पष्ट हो गया था कि यह युद्ध उनकी मुक्ति के लिए नहीं था।

यह परिवर्तन राजनीतिक रूप से निर्णायक है। सत्ता परिवर्तन महज सैन्य परिणाम नहीं है, बल्कि एक सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया है। इसके लिए सत्ताधारी अभिजात वर्ग का बिखराव, सत्ता हथियाने में सक्षम एक संगठित विपक्ष और एक ऐसी जनता की जरूरत होती है, जिसका आक्रोश विदेशी हमलावर के बजाय अपने ही शासकों पर केन्द्रित हो। अमेरिका ने इस आक्रोश को अपने ही खिलाफ मोड़ लिया है।

मोजतबा खामेनेई का नए सर्वोच्च नेता के रूप में पदस्थापन उसकी इसी विफलता का उदाहरण है। उनके पिता की हत्या से संस्थागत अराजकता उत्पन्न होने की आशंका थी, जिससे इस्लामी गणराज्य अस्थिर हो सकता था। इसके विपरीत, सिस्टम ने बड़ी तेजी से चीजों पर काबू पा लिया। नेतृत्व में परिवर्तन जरूर हुआ, लेकिन शासन व्यवस्था कायम रही। दरअसल, नए नेता ने सत्ता ऐसे हालात में संभाली है जो उनकी सत्ता को कमजोर करने के बजाय और मजबूत करने वाले साबित हो रहे हैं। युद्धकाल में सत्ता हस्तांतरण अक्सर शासन व्यवस्था को मजबूत ही करता है क्योंकि नेतृत्व परिवर्तन राष्ट्र की सुरक्षा के नाम पर होता है। युवा खामेनेई अब संकटग्रस्त हालात में निरंतरता का प्रतीक बन चुके हैं।

अमेरिका और इजसराइल को शायद याद नहीं रहा कि ईरान के पास अपने मामलों में विदेशी हस्तक्षेप की यादें अब भी बनी हुई हैं। एक सदी से भी अधिक समय से, ईरानियों ने बाहरी शक्तियों द्वारा देश के संसाधनों का दोहन करने के इरादे से इसकी राजनीति को नया रूप देने के बार-बार किए गए प्रयासों का सामना किया है। 1891-92 का तंबाकू विरोध प्रदर्शन, जब राजशाही ने एक ब्रिटिश कंपनी को ईरान के तंबाकू उद्योग पर नियंत्रण प्रदान किया और फिर बड़े पैमाने पर हुए बहिष्कार ने कंपनी को रियायतें रद्द करने के लिए मजबूर कर दिया, विदेशी आर्थिक प्रभुत्व के खिलाफ देश के पहले संगठित जन प्रतिरोध प्रदर्शनों में से एक था।

1953 में, अमेरिका और ब्रिटेन ने मिलकर ईरान के लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित प्रधानमंत्री मोहम्मद मोसादेघ को सत्ता से इसलिए बेदखल कर दिया, क्योंकि उन्होंने देश के तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया था। इस तख्तापलट ने मोहम्मद रजा पहलवी को सत्ता में बहाल कर दिया और पश्चिमी सरकारों द्वारा समर्थित दशकों के सत्तावादी शासन की शुरुआत की। यही वह हालात थे जिन्होंने उस आक्रोश और असंतोष को जन्म दिया जिसने अंततः 1979 की क्रांति को हवा दी और देश के राजनीतिक भविष्य को नया आकार दिया। क्रांति के बावजूद ईरान के राष्ट्रीय विकास पर बाहरी दबाव बना रहा। 1980 के दशक में, सद्दाम हुसैन द्वारा ईरान पर किए गए हमले के दौरान अमेरिका ने इराक का समर्थन किया। यह आठ साल तक चला एक क्रूर युद्ध था जिसमें लाखों ईरानी नागरिकों की जान गई। बाद के दशकों में, वाशिंगटन द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों की लहरों ने ईरानी अर्थव्यवस्था को पंगु बना दिया, जिससे उसके नागरिकों को भारी मुश्किलें झेलनी पड़ीं।

यह ऐतिहासिक संदर्भ बताता है कि मौजूदा युद्ध अपने इच्छित प्रभाव के विपरीत नतीजे क्यों दे रहा है। यह संघर्ष शासन को उसके समाज से अलग-थलग करने के बजाय, शासन के उस प्रमुख आख्यान को ही और मजबूत कर रहा है कि ईरान एक ऐसा राष्ट्र है जिस पर बाहरी खतरा लगातार बना हुआ है। ईरानी राजनीति के अत्यंत अहम मुद्दे संप्रभुता और आत्मनिर्णय एक बार फिर चर्चा के केन्द्र में हैं। यहां तक कि राजनीतिक सुधार और अधिक स्वतंत्रता की मांग करने वाले मुखर ईरानी भी मुक्ति के नाम पर अपने देश के विनाश के साथ खड़े होने को तैयार नहीं हैं।

ईरानी प्रवासी समुदाय के अनेक लोग, जो शुरू में अमेरिकी सैन्य अभियान के समर्थन में थे, इस युद्ध के बदलते रुख से भ्रमित हैं। उनका मानना था कि एक सीमित युद्ध इस्लामी गणराज्य के पतन को गति दे सकता है, जो कि उनकी दिली इच्छा भी थी, लेकिन ईरान में बुनियादी नागरिक ढांचे का अंधाधुंध विनाश और आम नागरिकों की जान की हानि ऐसी कीमत है जिसे वे भी चुकाने को तैयार नहीं हैं। यहां तक कि वे लोग भी, जो कभी शासन के प्रतिरोध का प्रतीक होते थे, अपने देश को खून से लथपथ देख नैतिक दुविधा में फंसे दिख रहे हैं।

ईरान के अंदर, बड़ी संख्या में लोग सड़कों पर उतर आए हैं, लेकिन सरकार के विरोध में नहीं, बल्कि युद्ध के विरोध में। उनके प्रदर्शन विदेशी हमलावर के प्रति आक्रोश और राज्य के साथ एकजुटता जता रहे हैं।

अमेरिका और इसराइल के लिए, यह नतीजे विरोधाभासी और समझ से परे हैं। युद्ध ने ईरान के सैन्य, परमाणु और नागरिक बुनियादी ढांचे को भारी नुकसान पहुंचाया है। लेकिन यह भी सही है कि इसने सत्ता को राजनीतिक रूप से मजबूती भी दी है। आम ईरानियों की नजर में, इस्लामी गणराज्य आज न सिर्फ देश पर शासन करने वाला तंत्र है, बल्कि वे लोग भी हैं जो विदेशी हमलों से देश की रक्षा करते हैं। यह परिणाम पश्चिम एशिया में पश्चिमी देशों के कई हस्तक्षेपों की अस्पष्टता को भी उजागर करता है। सैन्य श्रेष्ठता स्वतः ही राजनीतिक परिवर्तन में तब्दील नहीं हो जाती। बमबारी अभियान क्षमताओं को कमजोर कर सकते हैं, नेताओं को मार सकते हैं, लेकिन वे वैधता का निर्माण तो नहीं कर सकते या यह निर्धारित नहीं कर सकते कि कोई समाज बाहरी हिंसा की व्याख्या किस तरह करता है। ■

> अमेरिका और इसराइल के लिए ये नतीजे विरोधाभासी हैं। युद्ध ने ईरान के सैन्य, परमाणु और नागरिक बुनियादी ढांचे को भारी नुकसान पहुंचाया है, लेकिन यह भी सही है कि इसने सत्ता को राजनीतिक रूप से मजबूती दी है

अशोक स्वैन स्वीडन के उप्सला विश्वविद्यालय में शांति और संघर्ष अनुसंधान के प्रोफेसर हैं

कृपया पेज 3 और 7 भी देखें

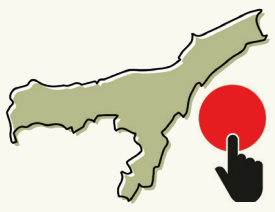

चुनावों को बेमानी करने की असम शैली

योगेन्द्र यादव

"सर, मैं आपको 200 परसेंट बता सकता हूं। चुनाव की घोषणा 14 मार्च से पहले नहीं होगी। और ये भी बता दूं —बाकी राज्यों में चाहे जब हों, असम में चुनाव 14 अप्रैल से पहले हो जाएंगे। आप लिख लीजिए।" यह बात कोई दो सप्ताह पहले की है। हम असम में सड़कों की ख़ाक छान रहे थे। मैं सोच रहा था कि पिछली बार की तरह चार राज्यों में चुनाव की घोषणा फरवरी के अंत या मार्च के पहले एक दो दिन में हो जाएगी। जब नहीं हुई, तो असम के एक राजनीतिक कार्यकर्ता को फोन किया।

उसने मेरे ज्ञान चक्षु खोल दिए। "देखिए सर, पीएम असम में 13 या 14 तारीख को आने वाले हैं। वह आकर कोई बड़ी घोषणा करेंगे। चुनाव आयोग उनका इंतज़ार करेगा, उसके बाद आचार संहिता लगाएगा। लेकिन उसके बाद असम में जल्दी से चुनाव करवाए जाएंगे। चूंकि इस बार बिहू के दौरान हर जगह जुबिन गर्ग की फोटो लगेगी, उनके गाने बजेंगे, जो लोगों को याद दिलाएंगे कि सरकार ने जुबिन की मौत की जांच नहीं करवाई। इसलिए भाजपा चाहती है कि 14 अप्रैल को बिहू शुरू होने से पहले-पहले चुनाव पूरे हो जाएं।"

और हुआ भी वही, जो उसने कहा था। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी 13 और 14 मार्च को असम आए। दो दिन में उन्होंने असम के विकास के लिए दर्जनों योजनाओं की घोषणा की। किसान सम्मान निधि की अगली किस्त प्रदान की, चाय बागान के मजदूरों को जमीन का पट्टा बांटा, तीन नई रेलगाड़ियां शुरू कीं, सिल्चर से शिलांग के एक्सप्रेस वे का भूमि पूजन किया, एक नई जल विद्युत परियोजना का लोकार्पण किया। कुल मिलाकर चुनाव की घोषणा से पहले 47,800 करोड़ रुपये बांटे और हर भाषण में कांग्रेस की पिछली सरकार को कोसा। उसके ठीक अगले दिन, यानी 15 मार्च को चुनाव आयोग ने चार राज्यों में चुनाव की घोषणा कर दी और आचार संहिता लागू हो गई। खबर है कि चुनाव आयोग ने आदर्श आचार संहिता को सख्ती से लागू करने के निर्देश दिए हैं।

इस जुगलबंदी पर किसी को हैरानी नहीं हुई। इतना तो चलता ही है। हमें आदत पड़ चुकी है। हमें आदत इस बात की भी पड़ चुकी है कि चुनाव से ठीक पहले सीधे वोटर के खाते में रिश्वत भेजी जाएगी। इस नई परंपरा का पालन करते हुए असम के मुख्यमंत्री हिमंत बिस्वा सरमा को भी चुनाव से ठीक पहले महिलाओं के कल्याण की चिंता सताई। राज्य सरकार की अरुणोदय योजना के तहत स्वयं सहायता समूह की 40 लाख महिलाओं को प्रति माह 1,250 रुपये मिलते हैं। लेकिन इस बार महिला कल्याण की विशेष चिंता के चलते उन सभी महिलाओं के खाते में एकमुश्त 9,000 रुपये डाल दिए गए — छह महीने का अग्रिम भुगतान और साथ में बिहू का बोनस भी। जाहिर है इस साल का बिहू कुछ विशेष है। साथ ही पिछले महीने बेरोजगार युवाओं को "जीवन प्रेरणा" देने के लिए एकमुश्त 2,500 रुपये दिए गए। इस प्रेरणा के पीछे क्या प्रेरणा थी, इसपर किसी ने ध्यान भी नहीं दिया। रेवड़ी संस्कृति पर नाक-भौं सिकोड़ने वाले मीडिया ने नहीं, इस प्रवृति पर चिंता व्यक्त करने वाले सुप्रीम कोर्ट ने भी नहीं। इतना तो चलता ही है। हमें आदत पड़ चुकी है।

गुवाहाटी में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी का स्वागत करते मुख्यमंत्री हिमंत बिस्वा सरमा (बाएं)

आजकल हमें इस बात की आदत भी पड़ चुकी है कि चुनाव आयोग तो झूठ की आंधी लाएंगे, नफरत बरसाएंगे, खून के छींटे आएंगे। इस मामले में इस बार हिमंत बिस्वा सरमा ने योगी आदित्यनाथ को भी मात दे दी। सरमा ने खुल कर अपनी पार्टी के कार्यकर्ताओं से वोटर लिस्ट पुनरीक्षण के दौरान "मियां" लोगों का वोट कटवाने का आह्वान किया, यह दावा भी किया कि उनकी पार्टी ने 5 लाख मियां के खिलाफ आपत्ति दायर की है। यही नहीं, राज्य के मुख्यमंत्री ने अपने राज्य के बंगला भाषी मुस्लिम नागरिकों का आर्थिक बॉयकॉट करने की अपील की। कहा कि मियां रिक्शा वाले को 5 रुपये की जगह 4 रुपये दो, उन्हें हर तरह से तंग करो।

एक टीवी चैनल के प्रोग्राम में मुख्यमंत्री ने खुलासा किया कि उन्हें पता है कि वह कानूनी तरीके से बंगाली मुसलमान को असम से डिपोर्ट नहीं कर सकते। "इसलिए मैं प्रेशर बनाता हूं ताकि वे खुद-ब-खुद चले जाएं।" अगर इतने से भी किसी को समझ नहीं आया, तो असम भाजपा ने एक वीडियो बनाया जिसमें सरमा के हाथ में पिस्तौल है और निशाना मियांनुमा मुसलमान और उसके साथ बैठे कांग्रेस नेता पर है। कुछ लोगों को अभी इतनी नंगई की आदत नहीं पड़ी थी, इसलिए उन्होंने क्षोभ व्यक्त किया तो वीडियो को चुपचाप हटा लिया गया। घृणा फैलाने के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं हुई। असम के कुछ बुद्धिजीवियों को अभी आदत नहीं पड़ी थी। नादान थे, इसलिए मुख्यमंत्री के बयानों के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट चले गए। दिन-रात हर छोटे बड़े मामले में हाथ डालने को तत्पर सुप्रीम कोर्ट ने उन्हें बैरंग गुवाहाटी हाईकोर्ट वापस भेज दिया। उन्हें भी आदत पड़ जाएगी।

एक आदत अभी हमें नहीं पड़ी है। अमेरिका में उसे जेरीमैंडरिंग कहते हैं। यानी चुनाव क्षेत्र की सीमाएं ऐसी बनाई जाएं कि एक पार्टी की विजय पक्की हो जाए। हमने अमेरिका से सब कुछ सीख लिया था, लेकिन अभी विकास की इस पायदान तक नहीं पहुंचे थे। असम ने इस बंधन को भी तोड़ दिया। वर्ष 2023 में असम के लोकसभा और विधानसभा चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन हुआ। आदेश लिखा चुनाव आयोग ने, लेकिन उसका भावार्थ समझाया मुख्यमंत्री ने। उन्होंने शुरू में ही कह दिया था कि इस परिसीमन के माध्यम से मियां मुसलमान का चुनावी असर कम किया जाएगा। और वही हुआ। चुनाव आयोग ने अजीबोगरीब तरह के क्षेत्र बनाए — कोई सांप जैसा, तो कोई केंकड़े के आकार का। नतीजा यह हुआ की पहले असम के 126 सीटों में 29 पर मुस्लिम बाहुल्य था, और इस बार उसके बढ़ने की संभावना थी। लेकिन अंततः ऐसे क्षेत्र घटकर 22 रह गए। अभी बाकी देश को इसका पता नहीं है, आदत नहीं पड़ी है। लेकिन आदत का क्या है, पड़ जाएगी! ■

> प्रधानमंत्री दो दिन असम में रहे, कई योजनाओं की घोषणा की और 47,800 करोड़ रुपये बांटे। उसके ठीक अगले दिन निर्वाचन आयोग ने चुनावों की घोषणा कर दी। यह अनायास नहीं

संडे नवजीवन
रविवार, 22 मार्च, 2026 Iwww.navjivanindia.com

लद्दाख में 'फूट डालो और राज करो' का खेल

विवाद का कारण बना है लेह में नए सामाजिक-राजनीतिक समूह का गठन

रश्मि सहगल

लद्दाख में गृह मंत्रालय के लोग एक कुटिल खेल खेल रहे हैं। इसी वर्ष जनवरी में लेह में वॉयस ऑफ बुद्धिस्ट लद्दाख (वीबीएल) नामक एक नए सामाजिक-राजनीतिक समूह का गठन किया गया है।

पिछले छह वर्षों से लद्दाख की जनता की चिंताओं को संयुक्त रूप से स्वर देने वाले लद्दाख एपेक्स बॉडी (एलएबी) और कारगिल डेमोक्रेटिक एलायंस (केडीए) का मानना है कि खुद को इस इलाके में बौद्धों का 'सच्चा प्रतिनिधि' बताने वाले इस समूह की स्थापना के पीछे दो मकसद काम कर रहे हैं। पहला- लद्दाख के प्रभावशाली बौद्ध समुदाय में फूट डालना और दूसरा- उस एलएबी के भीतर कलह पैदा करना, जो 2019 में तब से ही एक व्यापक और निरंतर विरोध प्रदर्शन का नेतृत्व कर रहा है, जब लद्दाख को बिना विधायिका के केन्द्र शासित प्रदेश बना दिया गया था।

स्कार्मा नामटक के नेतृत्व वाले वीबीएल का दावा है कि गृह मंत्रालय द्वारा गठित उच्च-शक्ति समिति (एचपीसी) में बौद्धों का प्रतिनिधित्व 'कम' है और उसने एलएबी पर 'बौद्ध हितों की अनदेखी करने' का आरोप लगाया है।

लेह एवं कारगिल प्रशासन (एलएबी) वीबीएल को सार्वजनिक रूप से 'भाजपा की बनाई संस्था' कहता है, जिसका उद्देश्य ही उनकी नजर में लेह एवं कारगिल की एकता को तोड़ना है। एलएबी और केडीए दोनों के नेताओं का कहना है कि उनके शांतिपूर्ण विरोध प्रदर्शनों को भारी पुलिसिया कार्रवाई के दम पर और उन्हें हिरासत में लेकर दबाया जा रहा है। वे सोनम वांगचुक का उदाहरण देते हैं, जिन्हें संविधान की छठी अनुसूची में क्षेत्र को शामिल करने की मांग को लेकर भूख हड़ताल के 15वें दिन राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के तहत गिरफ्तार किया गया था। छठी अनुसूची का उद्देश्य आदिवासी अधिकारों की रक्षा करना और स्थानीय स्वशासन सुनिश्चित करना है।

गृह मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारियों और उपराज्यपाल तक सीधी पहुंच रखने वाले वीबीएल को ऐसी कोई कठोर कार्रवाई नहीं झेलनी पड़ती है। यही कारण है कि सरकार पर यह कहकर पक्षपात का आरोप लग रहा है कि उसने अपना एजेंडा चलाने के लिए एक 'टुटपुंजिया' समूह तैयार कर दिया है।

लेह की बौद्ध-बहुसंख्यक आबादी और कारगिल के मुस्लिम-बहुसंख्यक समुदाय के बीच बनी दुर्लभ एकता पर नामटक का कहना है कि दोनों जिलों का प्रतिनिधित्व "एक ही निकाय द्वारा नहीं किया जा सकता", क्योंकि उनकी "राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पहचानें बहुत अलग हैं"। इसके अलावा, वह पूर्ण राज्य का दर्जा देने के बजाय केन्द्र द्वारा स्थापित एक क्षेत्रीय सलाहकार परिषद जैसी सीमित सुविधाओं वाली व्यवस्था में भी संतुष्ट होने को तैयार हैं।

चुशुल निर्वाचन क्षेत्र से लद्दाख स्वायत्त पहाड़ी विकास परिषद (एलएएचडीसी) के पूर्व कार्यकारी पार्षद कोंचोक स्टैनजिन कहते हैं, "यह स्पष्ट है कि गृह मंत्रालय वीबीएल के जरिये हमें बांटने की कोशिश कर रहा है। कारगिल की जनसंख्या वृद्धि दर लेह से थोड़ी ज्यादा है। वीबीएल इसी आशंका का लाभ उठा रहा है।"

भाजपा के मुखर आलोचक स्टैनजिन का कहना है कि लद्दाखी अपनी ही जमीन पर अजनबी बनते जा रहे हैं: "2019 के बाद से हमारी अधिकांश जमीनें बाहरी लोगों द्वारा अपने धंधे स्थापित करने के लिए खरीदी जा रही हैं।"

केडीए के को-चेयरमैन और एलएएचडीसी के पूर्व मुख्य कार्यकारी पार्षद मुखर असगर अली करबलाई भी उतने ही क्षुब्ध हैं। उनका कहना है कि "केन्द्र सरकार हमें धर्म के आधार पर बांटने की कोशिश कर रही है, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिलने वाली। उनका दावा था कि जांस्कर के लोग स्वायत्तता के लिए हमारे संघर्ष का समर्थन नहीं करते, लेकिन 16 मार्च के प्रदर्शनों ने उन्हें गलत साबित कर दिया। मतायेन गांव (जोजी ला दर्रा पार करने के बाद लद्दाख का पहला गांव) से लेकर सीमावर्ती गांव चुशुल तक, जांस्कर से लेकर पाकिस्तान से सटे तुरतुक गांव तक, सभी लोग हमारी जायज मांगों के समर्थन में भारी संख्या में सड़कों पर उतरे।" इन प्रदर्शनों में बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षु भी शामिल हुए।

फोटो: गेटी इमेजेज

लेह में कर्फ्यू के दौरान तैनात भारत-तिब्बत सीमा पुलिस के जवान

केन्द्र पर निर्वाचन क्षेत्रों के हेरफेर का आरोप लगाते हुए करबलाई ने कहा, "जब भी कोई विरोध मार्च होता है, हमें बैठक के लिए बुलाया जाता है। अन्यथा, सन्नाटा पसरा रहता है। हम बातचीत और विचार-विमर्श के लिए तैयार हैं और पिछले पांच वर्षों में गृह मंत्रालय के साथ 15 बैठकें कर भी चुके हैं। हमारी मांगें जायज हैं। हम राज्य का दर्जा और अपनी विधायिका चाहते हैं। मौजूदा प्रशासनिक ढांचे के तहत, हम बिना विधायिका वाला एक केन्द्र शासित प्रदेश हैं। इसका परिणाम यह है कि हमारी आर्थिकी पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है।"

करबलाई ने आगे कहा, "अगर पूर्वोत्तर के चार राज्यों को छठी अनुसूची के अंतर्गत शामिल किया जा सकता है, जिसमें स्वायत्त परिषदों को स्थानीय रीति-रिवाजों के अनुसार अपने कानून बनाने का प्रावधान है, तो हमें भी इसी तरह सशक्त क्यों नहीं किया जा सकता? गृह मंत्रालय का कहना है कि हम छठी अनुसूची का अत्यधिक इस्तेमाल कर रहे हैं, इसे कमजोर कर दिया गया है और न्यायिक एवं वित्तीय शक्तियां केन्द्र द्वारा हथिया ली गई हैं। गृह मंत्रालय सिर्फ लेह स्वायत्त परिषद को 'क्षेत्रीय परिषद' के नए नाम से पुनः स्थापित करना चाहता है, लेकिन हमें यह सुझाव मंज़ूर नहीं है। छठी अनुसूची का उद्देश्य जनजातीय आबादी की रक्षा करना और उन्हें भूमि, स्वास्थ्य और कृषि संबंधी कानून बनाने के लिए स्वायत्त संगठन स्थापित करने की अनुमति देना था। हम इसी के लिए संघर्ष कर रहे हैं।"

लेक्दापुर के उपराज्यपाल वी.एन. सक्सेना का हालिया बयान कि लद्दाख में विरोध प्रदर्शन की कोई गुंजाइश नहीं है, लद्दाखियों को रास नहीं आया है। करबलाई पूछते हैं, "आखिर उनका मतलब क्या है?" उन्होंने कहा, "संविधान हमें विरोध करने का अधिकार देता है और हम तब तक विरोध करते रहेंगे जब तक हमारी असल मांगें पूरी नहीं हो जातीं।"

> "अगर पूर्वोत्तर के चार राज्यों को छठी अनुसूची के तहत अधिकार– यानी स्वायत्त परिषदें और स्थानीय रीति-रिवाजों के अनुसार कानून बनाने का अधिकार– मिल सकते हैं, तो हमें क्यों नहीं?"

लेह अपेक्स बॉडी (एलएबी) के सह-अध्यक्ष चेरिंग दोरजे लाब्रुक का मानना है कि राज्य का दर्जा और छठी अनुसूची का दर्जा देने की उनकी मांग को सरकार द्वारा खारिज करने का कारण यह था कि पूरा क्षेत्र अनुसूचित जनजातियों से आबाद है जिन्हें विशेष संरक्षण की जरूरत नहीं। लाब्रुक, जो लद्दाख बौद्ध संघ के अध्यक्ष भी हैं, बताते हैं कि "मेघालय भी छठी अनुसूची के तहत स्वायत्त परिषदों वाला एक राज्य है। तो लद्दाख के लिए भी यही व्यवस्था क्यों नहीं हो सकती? सरकार हमें गुमराह करने की कोशिश कर रही है।"

लंबी बातचीत के दौरान, गृह मंत्रालय ने लद्दाख के लिए अनुच्छेद 371 के साथ 'क्षेत्रीय परिषद' मॉडल का प्रस्ताव रखा था, जिसमें मुख्य कार्यकारी पार्षद को केन्द्र शासित प्रदेश का मुख्यमंत्री नामित किया जाना था। लद्दाख परिषद ने इसे सिरे से खारिज कर दिया है। लाब्रुक कहते हैं, "पहाड़ी परिषदों को मजबूत करना कभी हमारी मांग में नहीं था।"

लाब्रुक का कहना है कि लद्दाख बुद्धिस्ट एसोसिएशन (एलबीए) ही प्राथमिक प्रतिनिधि निकाय है और रहेगा, और उन्होंने बौद्ध समुदाय को विभाजित करने के किसी भी प्रयास के खिलाफ चेतावनी दी है। हालांकि वह भी "वीबीएल के गठन को चिंता की बात" मानते हैं और कहते हैं कि केडीए के सदस्य सज्जाद कारगिली का रुख ज्यादा स्पष्ट है।

कारगिली ने दावा किया कि, "गृह मंत्रालय हमारी एकता तोड़ने की कोशिश कर रहा है। हम लद्दाखी संख्या में भले कम हैं, लेकिन हमारी ताकत हमारी एकता में है। जम्मू-कश्मीर में रहने वाले लोग हमारी इस एकता की सराहना करते हैं कि केन्द्र सरकार द्वारा धार्मिक आधार पर हमें बांटने के प्रयासों के बावजूद हम इसे बनाए रखने में सफल रहे हैं। यह मत भूलिए कि हमारी भाषा और संस्कृति एक ही है। सोनम वांगचुक को इसलिए गिरफ्तार किया गया क्योंकि वे हमारे संगठन को तोड़ना चाहते थे। वांगचुक को जोधपुर केन्द्रीय जेल से गृह मंत्रालय की इज्जत बचाने के लिए रिहा किया गया क्योंकि वे जानते थे कि सुप्रीम कोर्ट उनकी गिरफ्तारी रद्द कर देता"।

14 मार्च को रिहाई के बाद वांगचुक ने कहा, "हम हमेशा संवाद के पक्षधर रहे हैं। हालिया रैली में लोगों ने सरकार से बातचीत के लिए आगे आने की अपील की। लेकिन अगर वे हमारी मांगों को नहीं मानते हैं, तो हम महात्मा गांधी के अहिंसक सत्याग्रह के सिद्धांतों पर चलते हुए अपना आंदोलन जारी रखने के लिए मजबूर होंगे।"

लद्दाख में सब एक ही बात चाहते हैं कि स्थानीय आबादी का अपनी जमीन पर अधिकार बरकरार रहे। कारगिली ने कहा, "लद्दाख पंजाब के आकार का एक विशाल भूभाग है। इसमें अपार संभावनाएं हैं। यह स्पष्ट है कि केन्द्र सरकार यह जमीन अपने पिट्ठू पूंजीपतियों के हवाले करना चाहती है। हमारी जमीन की हर कीमत पर रक्षा की जानी चाहिए।"

अडानी पावर द्वारा कथित रूप से विकसित किए जा रहे सौर फार्म के बारे में पूछे जाने पर, जो लगभग पूरा होने को है, उन्होंने बताया, "सरकार को इससे तीन गीगावाट बिजली उत्पन्न करने की उम्मीद है।"

सरकार चाहे जितना शोर मचा ले कि यह सब बेहतर शासन के लिए समग्र प्रशासनिक सुधार का हिस्सा है, लेकिन जनता जानती है कि इससे सिर्फ एक काम होगा, और वह यह कि बहुमूल्य संसाधनों तक कॉरपोरेट कंपनियों की पहुंच बढ़ जाएगी। पर्यावरण के नजरिये से संवेदनशील इस क्षेत्र में नियोजित सौर पार्क और खनन परियोजनाओं के कारण अन्य क्षेत्रों से हजारों श्रमिक यहां आएंगे, अंततः उन्हें अधिवास भी मिल ही जाएगा, जो जनसांख्यिकीय संरचना स्थायी रूप से बदलने का कारण बनेगा। पांच नए जिलों- शाम, नुब्रा, चांगथांग, जांस्कर और द्रास के गठन को भी केन्द्र सरकार के एक अशुभ कदम के तौर पर देखा जा रहा है, जिसके बारे में आम धारणा है कि इसका इस्तेमाल भविष्य में इस क्षेत्र की जनसांख्यिकी को और ज्यादा बदलने के लिए किया जा सकता है। ■

न्याय में विश्वास बहाल करने की कोशिश

न्यायमूर्ति अतुल श्रीधरन ने उत्तर प्रदेश में सत्ता की मनमानी को चुनौती देने का तरीका दिखाया है

ए. जे. प्रबल

उत्तर प्रदेश में पिछले कुछ वर्षों से शासन व्यवस्था 'बुलडोजर के बल पर न्याय', फर्जी मुठभेड़ों, मनमानी गिरफ्तारियों और कानून के शासन की घोर अवहेलना की संस्कृति का पर्याय रही है। संवैधानिक सिद्धांतों का पालन करने के बजाय, न्याय की नौकरशाही व्याख्या अक्सर राजनीतिक लाभ के लिए झुक जाती थी। हाल ही में, और उल्लेखनीय रूप से, न्यायिक हस्तक्षेप - विशेष रूप से इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति अतुल श्रीधरन के नेतृत्व में - अदालतों में विश्वास बहाल करना शुरू कर रहा है।

न्यायमूर्ति श्रीधरन ने राज्य के उन अनेक कामों को चुनौती दी है जिनसे नागरिकों के मौलिक अधिकारों, खास तौर पर धार्मिक स्वतंत्रता का उल्लंघन हुआ है, और उन्होंने संवैधानिक गारंटियों का उल्लंघन किए बिना कानून-व्यवस्था बनाए रखने के अपने प्राथमिक कर्तव्य में विफल रहने के लिए अफसरों की खुलेआम निंदा की है। उनके साहसिक निर्णय और स्पष्ट टिप्पणियां न केवल विशिष्ट अन्यायों का समाधान पेश करती हैं, बल्कि ये व्यवस्थागत बदलाव के लिए सशक्त आह्वान भी हैं।

अब जैसे, संभल का उदाहरण लें। जिला प्रशासन ने रमज़ान के दौरान मस्जिद में नमाज अदा करने वालों की संख्या सीमित करने का आदेश जारी किया, तो अदालत ने अतिरिक्त महाधिवक्ता से सीधे पूछा, 'क्या मंदिरों में भी ऐसे प्रतिबंध लगाए जाते हैं? (पिछले साल प्रयागराज में) महाकुंभ मेले में भगदड़ मच गई थी, तो क्या आपने वहां तीन वर्ग फुट में दो व्यक्तियों की सीमा तय की थी? अगर हिन्दू अपने घरों में पूजा कर रहे हैं, तो क्या उन्हें ऐसा करने से रोका जा सकता है?'

जब राज्य सरकार ने कानून-व्यवस्था बनाए रखने के आधार पर प्रतिबंध का बचाव किया, तो अदालत की टिप्पणी तीखी थी। न्यायमूर्ति श्रीधरन ने कहा, 'अगर एसपी और डीएम को लगता है कि परिसर के अंदर बड़ी संख्या में लोगों के प्रार्थना करने से कानून-व्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, तो उन्हें या तो अपने पदों से इस्तीफा दे देना चाहिए या संभल से बाहर अपने तबादले की मांग करनी चाहिए।' उन्होंने अधिकारियों को याद दिलाया कि सभी परिस्थितियों में कानून-व्यवस्था सुनिश्चित करना प्रशासन का कर्तव्य है।

जनवरी 2026 में एक अलग मामले में, अदालत ने अधिकारियों को इस बात पर जोर देने के लिए फटकार लगाई कि ईसाई श्रद्धालुओं को निजी घरों में प्रार्थना सभाओं के लिए इकट्ठा होने के लिए पूर्व अनुमति की जरूरत है। हाईकोर्ट ने स्पष्ट शब्दों में कानून का उल्लेख किया कि निजी संपत्ति पर पूजा या प्रार्थना करने के लिए सरकार या पुलिस की पूर्व अनुमति की कोई जरूरत नहीं है। अदालत ने पूछा कि क्या अपने घरों में प्रार्थना करने या भजन गाने वाले हिन्दुओं पर भी इसी तरह की बंदिश लगाई जा सकती है? यह टिप्पणी भी की कि शासन को सभी नागरिकों के साथ समान व्यवहार करना चाहिए।

इन सब पर जमीयत उलेमा-ए-हिन्द के अध्यक्ष महमूद मदानी ने सही ही कहा कि 'पिछले कुछ वर्षों में - खासकर यूपी में - ऐसे कई मामले सामने आए जहां नमाज अदा करने या धार्मिक सभाएं आयोजित करने मात्र पर एफआईआर दर्ज की गई और गिरफ्तारियां की गईं। शांतिपूर्ण ढंग से इबादत को गलत तरीके से कानून-व्यवस्था का मुद्दा बना दिया गया, जिससे नागरिकों में अनावश्यक भय और परेशानी पैदा हुई। हाईकोर्ट के हाल के इन फैसलों से अब बहुत जरूरी स्पष्टता मिल गई है।'

अखिल भारतीय ईसाई परिषद के सदस्य जॉन दयाल ने भी कहा कि 'आप अपने घर के अंदर क्या करते हैं, क्या खाते हैं, कैसे कपड़े पहनते हैं, यह निजी मामला है। इसके लिए किसी अनुमति की जरूरत ही क्यों होनी चाहिए? अदालत को इस बुनियादी स्वतंत्रता को बहाल करने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ा, यह इस बात का प्रमाण है कि एक राष्ट्र के रूप में हमारा क्या हाल हो गया है।'

न्यायमूर्ति अतुल श्रीधरन और सिद्धार्थ नंदन की उसी पीठ ने बरेली के डीएम और एसएसपी को भी अवमानना का नोटिस जारी किया, जिसमें आरोप लगाया गया था कि उन्होंने (याचिकाकर्ता तारिक खान सहित) कुछ लोगों को एक निजी घर के अंदर नमाज अदा करने से रोका था। रेशमा खान के स्वामित्व वाले एक खाली घर में 'बिना अनुमति' नमाज अदा करने के आरोप में तारिक खान को सबसे पहले 16 जनवरी 2026 को अन्य लोगों के साथ हिरासत में लिया गया था। पीठ ने कहा कि कानून के तहत किसी भी नागरिक को धार्मिक प्रार्थना करने के लिए किसी अनुमति की जरूरत नहीं है क्योंकि अनुच्छेद 25 के तहत यह नागरिक का मौलिक अधिकार है।

*

न्यायमूर्ति श्रीधरन की सबसे कम चर्चित टिप्पणियों में से एक मध्य प्रदेश न्यायपालिका में व्याप्त 'जाति व्यवस्था' और 'सामंती मानसिकता' की तीखी निंदा करना है। उन्होंने कहा कि हईकोर्ट के न्यायाधीशों को 'सवर्ण' और जिला न्यायाधीशों को 'शूद्र' समझा जाता है। उन्होंने कहा कि 'जिला न्यायपालिका के न्यायाधीश जब उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का अभिवादन करते हैं तो उनकी शारीरिक मुद्रा लगभग गिड़गिड़ाहट जैसी होती है, जिससे जिला न्यायपालिका के न्यायाधीश अकशेरुकी (इनवर्टिब्रेट) स्तनधारियों की एकमात्र पहचान योग्य प्रजाति बन जाते हैं।'

उन्होंने यह भी कहा कि 'जिला न्यायपालिका के न्यायाधीश न केवल रेलवे प्लेटफॉर्म पर हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की इच्छानुसार व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होते हैं और उनकी सेवा करते हैं, बल्कि उच्च न्यायालय की रजिस्ट्री में प्रतिनियुक्ति पर तैनात जिला न्यायपालिका के न्यायाधीशों को हाईकोर्ट के न्यायाधीशों द्वारा लगभग कभी भी बैठने की जगह तक नहीं दी जाती है।'

यह टिप्पणी पूर्व जिला न्यायाधीश जगत मोहन चतुर्वेदी की अपील पर सुनवाई करते हुए की गई, जिन्हें 2015 में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के विशेष न्यायाधीश के पद से बर्खास्त कर दिया गया था। अदालत ने कहा कि 'उनके परिवार हैं, बच्चे स्कूल जाते हैं, माता-पिता का इलाज चल रहा है, घर बनाना है, बचत करनी है, और जब हईकोर्ट उनके द्वारा पारित न्यायिक आदेश के आधार पर उनकी सेवा अचानक समाप्त कर देता है, तो वे और उनका पूरा परिवार बेघर हो जाता है, उन्हें पेंशन नहीं मिलती और समाज में उनकी ईमानदारी पर संदेह होने का कलंक झेलना पड़ता है।' अदालत ने चतुर्वेदी का वेतन और पेंशन बहाल करने के साथ-साथ उन्हें मुआवजे के रूप में एकमुश्त राशि देने का आदेश दिया।

न्यायमूर्ति श्रीधरन उन गिने-चुने उच्च न्यायालय न्यायाधीशों में हैं जिन्होंने 2023 में मध्य प्रदेश से स्वैच्छिक तबादला मांगा था, क्योंकि उनकी बेटी इंदौर में वकालत शुरू करने वाली थी। उनका तबादला जम्मू-कश्मीर हाईकोर्ट में हुआ, जहां उन्होंने 'द कश्मीरवाला' के संपादक फहद शाह को 2022 से जेल में रखने के लिए पुलिस को फटकार लगाते हुए उन्हें जमानत पर रिहा कर दिया। न्यायालय ने शाह पर लगाए गए 'नैरेटिव टेररिज्म' के आरोप को भी खारिज कर दिया। आदेश में यह सवाल भी उठाया गया कि आखिर, शाह को 2011 में प्रकाशित एक लेख के लिए यूएपीए के तहत क्यों हिरासत में लिया गया।

2025 में, श्रीधरन को मध्य प्रदेश वापस भेज दिया गया और उसी साल अगस्त में उनका तबादला छत्तीसगढ़ कर दिया गया, जहां वे वरिष्ठता क्रम में दूसरे स्थान पर होने के कारण कॉलेजियम का हिस्सा होते। हालांकि, केन्द्र सरकार ने हस्तक्षेप किया और अक्तूबर 2025 में, तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश बी.आर. गवई की अध्यक्षता वाले कॉलेजियम ने न्यायमूर्ति श्रीधरन का तबादला इलाहाबाद हाईकोर्ट में कर दिया, जहां वे वरिष्ठता क्रम में सातवें स्थान पर हैं और इसलिए तीन सबसे वरिष्ठ न्यायाधीशों वाले कॉलेजियम का हिस्सा नहीं हैं।

श्रीधरन मामले का जिक्र किए बिना, सुप्रीम कोर्ट के जस्टिस उज्ज्वल भुइयां ने पुणे में एक भाषण में कहा कि 'न्यायाधीशों के तबादलों और तैनाती में केन्द्र सरकार का कोई दखल नहीं हो सकता। वह यह नहीं कह सकती कि अमुक न्यायाधीश का तबादला होना चाहिए या नहीं, या यदि तबादला होता है तो उसे अमुक उच्च न्यायालय में भेजा जाए।' उन्होंने कहा कि 'जब कॉलेजियम खुद अपने मिनट्स में यह दर्ज करता है कि हाईकोर्ट के किसी न्यायाधीश का तबादला केन्द्र सरकार के इशारे पर किया जा रहा है, तो यह कार्यपालिका के प्रभाव का स्पष्ट अतिक्रमण है।'

न्यायमूर्ति श्रीधरन उन ईमानदार न्यायाधीशों की सूची में शामिल हो गए हैं, जिन्होंने हाल के वर्षों में न्यायमूर्ति अखिल कुरैशी, न्यायमूर्ति मुरलीधरन और न्यायमूर्ति जयंत पटेल जैसे कई दबावों का सामना किया है। यूपी में उनका कार्यकाल कितना लंबा चलेगा, यह गहन अटकलों का विषय है। ■

बडगाम के प्रिंसिपल सिविल जज खलिल अहमद चौधरी (बाएं) से बात करते न्यायमूर्ति अतुल श्रीधरन

> घर पर प्रार्थना करने के लिए किसी अनुमति की जरूरत ही क्यों होनी चाहिए? अदालत को इस बुनियादी स्वतंत्रता को बहाल करने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ा, यह इस बात का प्रमाण है कि एक राष्ट्र के रूप में हमारा क्या हाल हो गया है

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

ऊर्जा संप्रभुता का असली मतलब

तेल आयात पर भारत की निर्भरता में चिंताजनक वृद्धि और इस स्थिति को जन्म देने वाली नीतिगत गलतियां

गुरदीप सप्पल

1955 में, केशव देव मालवीय नाम के एक युवा मंत्री जवाहरलाल नेहरू के कार्यालय में एक साहसिक प्रस्ताव लेकर पहुंचे कि भारत को अपने कच्चे तेल की खोज, खनन और उत्पादन खुद करना होगा। फिर क्या था, पश्चिमी शक्तियां और वैश्विक तेल कंपनियां मालवीय के इस संप्रभु, राज्य-नेतृत्व वाले तेल खोज और उत्पादन कार्यक्रम के प्रस्ताव के पुरजोर विरोध में खड़ी हो गईं। दरअसल, देश की संपूर्ण पेट्रोलियम चेन का नियंत्रण इन्हीं दिग्गज कंपनियों के हाथ में था और ये पहले से ही भारत पर सस्ता सोवियत तेल (रुपये में भुगतान के बदले उपलब्ध) न खरीदने का दबाव बना रही थीं। उन्होंने अत्यधिक लागत और योग्य तकनीकी कर्मचारियों की कमी का हवाला देते हुए भारत में तेल खोज का खुला विरोध किया।

नेहरू और मालवीय पर इस विरोध का कोई असर नहीं पड़ा। वह एक नव-स्वतंत्र, अविकसित राष्ट्र का नेतृत्व करते हुए अपनी बात पर दृढ़ संकल्पित रहे। जिसका नतीजा 1956 में स्थापित तेल और प्राकृतिक गैस आयोग (ओएनजीसी) के रूप में सामने आया। तीन वर्षों के भीतर, भारत ने अपने पहले बैच के सौ भूवैज्ञानिकों और भू-भौतिकविदों को प्रशिक्षित कर उनकी तैनाती भी कर दी। इसी नई टीम ने 1959 में कैम्बे में तेल की खोज की। 1974 तक, बॉम्बे हाई में भारत का पहला अपतटीय ड्रिलिंग प्लेटफॉर्म चालू हो चुका था, जिसने 1980 के दशक तक देश की दो-तिहाई तेल आवश्यकताओं को पूरा किया। ओएनजीसी भारत की सबसे लाभदायक कंपनी और उसकी ऊर्जा संप्रभुता का मुकुट रत्न बनकर उभरी।

सात दशक बाद, आज वह सपना चकनाचूर हो चुका है। भारत अब अपनी तेल खपत का मात्र 13 प्रतिशत ही उत्पादन करता है। ओएनजीसी, जिसके पास 2014 में 13,000 करोड़ रुपये का नकद अधिशेष था, 2024 तक 78,000 करोड़ रुपये के ऋण में तब्दील हो चुका था, क्योंकि इसका इस्तेमाल नरेन्द्र मोदी सरकार का राजकोषीय घाटा पूरा करने और गुजरात स्टेट पेट्रोलियम कॉरपोरेशन (जीएसपीसी) की विफलता को छुपाने के लिए किया गया था।

ओएनजीसी को मजबूरन जीएसपीसी का अधिग्रहण करना पड़ा, जिसके लिए उसने 7,480 रुपये करोड़ खर्च किए, जबकि उस ब्लॉक में कोई व्यावसायिक उत्पादन नहीं हो रहा था। इसके अलावा, ओएनजीसी को जीएसपीसी का 19,576 करोड़ रुपये कर्ज भी अपने ऊपर लेना पड़ा। 2018 में, उसे एचपीसीएल में 51 प्रतिशत हिस्सेदारी 36,915 करोड़ रुपये में खरीदने के लिए फिर से मजबूर होना पड़ा। इस सौदे में सरकार एक साथ विक्रेता और लाभार्थी दोनों थी, क्योंकि उसने ओएनजीसी का इस्तेमाल अपने विनिवेश लक्ष्यों को पूरा करने के एक साधन के रूप में किया। नतीजा यह हुआ कि कंपनी नकदी की कमी और कर्ज के बोझ तले दब गई, जिसका मतलब था कि भविष्य की खोज के लिए पूंजीगत व्यय में कटौती करनी पड़ी। भारत का तेल उत्पादन 2014 में घरेलू खपत का 26 प्रतिशत था, जो आज घटकर 13 प्रतिशत रह गया है। अंतरराष्ट्रीय ऊर्जा एजेंसी (आईईए) का अनुमान है कि 2030 तक यह घटकर मात्र 8 प्रतिशत रह जाएगा।

तेल बॉन्ड का बहाना

घरेलू उत्पादन को व्यवस्थित रूप से कमजोर करते हुए, मोदी सरकार ने यूपीए काल से विरासत में मिले 'तेल बॉन्ड संकट' का सहारा लिया। मोदी सरकार के अधिकांश कार्यकाल में अंतरराष्ट्रीय कच्चे तेल की कीमतें 30-65 डॉलर प्रति बैरल के बीच रहीं, जो यूपीए काल के 145 डॉलर के उच्चतम स्तर से काफी कम है। फिर भी, खुदरा ईंधन की कीमतें लगातार ऊंची बनी और बढ़ती रहीं, जिसका औचित्य तेल बॉन्ड के पुनर्भुगतान के बोझ को बताया गया।

हालांकि, आंकड़े कुछ और ही कहानी बयां करते हैं। 2014 में जब मोदी सरकार ने अपना पहला कार्यकाल शुरू किया, तब से लेकर अब तक सरकार ने तेल बॉन्ड के रूप में 3.2 लाख करोड़ रुपये का भुगतान किया है, लेकिन इसी अवधि में पेट्रोलियम कर के रूप में लगभग 44 लाख करोड़ रुपये की वसूली की है, जो यूपीए सरकार के कार्यकाल में वसूले गए 10.75 लाख करोड़ रुपये से 400 प्रतिशत अधिक है। तेल बॉन्ड का भुगतान पेट्रोलियम कर से प्राप्त कुल राजस्व का मात्र 7.2 प्रतिशत था। जनता को 400 प्रतिशत कर वृद्धि का बोझ उठाना पड़ा; सरकार ने बदले में कर में हेराफेरी का रास्ता अपनाया।

एक ऐसा देश जो अपनी जरूरत का 92 प्रतिशत तेल आयात करता है, उसके पास न तो ऊर्जा सुरक्षा है, न ऊर्जा कूटनीति में कोई प्रभाव है और न ही आपूर्ति में अचानक होने वाले झटकों से बचाव की कोई क्षमता

ओएनजीसी का बंगाल की खाड़ी में तेल निकलने का प्लांट। जवाहरलाल नेहरू 11 मई 1963 को गुजरात के अंकलेश्वर तेल क्षेत्र में। उनके दाहिनी ओर के.डी. मालवीय और जीवराज मेहता हैं।

*

मई 2014 में जब नरेन्द्र मोदी ने सत्ता संभाली, वैश्विक कच्चे तेल की कीमत 107 डॉलर प्रति बैरल थी, लेकिन कुछ ही महीनों में कीमतें गिर गईं; जनवरी 2016 तक, 'इंडियन बास्केट' {भारतीय रिफाइनरियों द्वारा आयातित 'खट्टे' (उच्च-सल्फर) और 'मीठे' (कम-सल्फर) कच्चे तेल के विशिष्ट मिश्रण के लिए अंतरराष्ट्रीय कीमतों का भारित औसत।} गिरकर 28 डॉलर हो गया- यानी 74 प्रतिशत की गिरावट। अपने तेल का 85 प्रतिशत आयात करने वाले देश के लिए यह एक असाधारण लाभ था। एक दशक तक उच्च कीमतों का सामना करने वाले उपभोक्ताओं को राहत मिलना स्वाभाविक था। इसके बाद जो हुआ वह राजकोषीय अवसरवादिता का एक उत्कृष्ट उदाहरण था। पेट्रोल पर उत्पाद शुल्क 350 प्रतिशत और डीजल पर 380 प्रतिशत बढ़ा दिया गया। खुदरा कीमतों में कोई कमी नहीं आई। दशकों में तेल की कीमतों में आई सबसे बड़ी गिरावट का पूरा लाभ सरकारी खजाने में चला गया।

कोविड-19 महामारी के दौरान अप्रैल 2020 में जब कच्चे तेल की कीमतें 20 डॉलर से नीचे गिर गईं, तब भी यही रणनीति अपनाई गई थी। मई 2020 में, सरकार ने एक ही दिन में पेट्रोल पर 10 रुपये प्रति लीटर और डीजल पर 13 रुपये प्रति लीटर की रिकॉर्ड बढ़ोतरी की। उस वर्ष पेट्रोलियम उत्पाद शुल्क राजस्व 3.71 लाख करोड़ रुपये तक पहुंच गया, जो एक वर्ष में 69 प्रतिशत की वृद्धि थी। अप्रैल 2025 में, ब्रेंट क्रूड की कीमत फिर से 63 डॉलर पर पहुंचने पर, 2 रुपये प्रति लीटर की और बढ़ोतरी की गई। 2014-15 और 2025-26 के बीच कुल पेट्रोलियम कर संग्रह राज्यों के हिस्से सहित 67 लाख करोड़ रुपये से अधिक हो जाएगा, जिसमें केन्द्र को लगभग 44 लाख करोड़ रुपये प्राप्त होंगे।

मनमोहन सिंह का शासनकाल

डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली यूपीए सरकार (2004-2014) ने कच्चे तेल की बेहद कठोर कीमतों के दौर में शासन किया। 2011-12 में भारतीय बास्केट की औसत कीमत 112 डॉलर प्रति बैरल थी, जो इतिहास में अब तक का सबसे उच्च स्तर था। फिर भी, प्रशासित मूल्य तंत्र (एडमिनिस्टर्ड प्राइस मैकेनिज्म) के जरिये खुदरा पेट्रोल की कीमतें 72 रुपये प्रति लीटर से नीचे रखी गईं: यह एक त्रिपक्षीय व्यवस्था थी जिसमें प्रत्यक्ष बजट सब्सिडी, उत्पादन कंपनियों का योगदान और तेल बांड शामिल थे।

यूपीए के दशक में, केन्द्र ने पेट्रोलियम करों से 10.75 लाख करोड़ रुपये एकत्र किए और कीमतों को नियंत्रित रखने के लिए लगभग 80 प्रतिशत यानी 8.56 लाख करोड़ रुपये सब्सिडी के रूप में वापस दिए। मोदी सरकार ने 44 लाख करोड़ एकत्र किए और लगभग 4 प्रतिशत यानी 1.7 लाख करोड़ सब्सिडी के रूप में वापस दिए। अंतर साफ है।

उसके बाद की गिरावट

भारत का घरेलू कच्चे तेल का उत्पादन 2011-12 में 38 मिलियन टन के उच्चतम स्तर पर था। 2023-24 तक यह घटकर 29.4 मिलियन टन रह गया, यानी 23 प्रतिशत की गिरावट। आत्मनिर्भरता, जो 2004 में खपत का 27 प्रतिशत थी, आज घटकर महज 13 प्रतिशत रह गई है।

आईईए का अनुमान है कि बड़े नए निवेशों के बिना, भारत 2030 तक प्रतिदिन केवल 540,000 बैरल तेल का उत्पादन कर पाएगा, जो अनुमानित खपत के 8 प्रतिशत से भी कम होगा। देश को प्रतिदिन 6 मिलियन बैरल से अधिक तेल आयात करना होगा, जिससे यह संभावित रूप से दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा कच्चा तेल आयातक बन जाएगा, जिसका वार्षिक तेल बिल 200 अरब डॉलर से अधिक होगा।

विडंबना ही है कि चाहे वह मध्य-पूर्वी संघर्ष से उपजा संकट हो, जलडमरूमध्य की नाकाबंदी से उपजा संकट या ओपेक के उत्पादन संबंधी फैसले से- जो देश अपने तेल का 92 प्रतिशत आयात करता है, उसके पास न तो ऊर्जा सुरक्षा है, न ही ऊर्जा कूटनीति में कोई प्रभाव है, और न ही आपूर्ति में आने वाले झटकों से बचाव का कोई इंतजाम।

1950 के दशक में, भारत एक नवोदित लोकतंत्र था जिसके पास न संसाधन थे, न प्रशिक्षित जनशक्ति और न ही ऊर्जा प्रबंधन का कोई अनुभव। फिर भी, एक दशक के भीतर ही नेहरू ने न केवल स्वदेशी विकास के लिए एक तकनीकी कार्यबल का निर्माण किया, बल्कि विदेशी दबाव का विरोध करने और भारत का मार्ग स्वयं तय करने का संकल्प भी लिया। वह समझते थे कि ऊर्जा संप्रभुता ही अन्य सभी प्रकार की स्वतंत्रता की नींव है। पश्चिमी तेल कार्टेल की इच्छाओं के विपरीत, वर्षों के अथक परिश्रम के बाद ओएनजीसी ने आकार लिया और इसे भावी सरकारों को रणनीतिक स्वायत्तता के एक साधन के तौर पर सौंप दिया गया। उस संस्था के साथ जो कुछ किया गया है और सस्ते वैश्विक तेल के तीन अलग-अलग स्रोतों का लाभ न मिल पाने से उन उपभोक्ताओं के साथ जैसा अन्याय हुआ है, वह वित्तीय उत्तरदायित्व की भाषा में लिपटे संस्थागत विश्वासघात की कहानी है।

और जैसे-जैसे भारत 2030 तक तेल आयात विधेयक की ओर बढ़ रहा है, जो उसका चालू खाता अस्थिर कर सकता है, सार्वजनिक निवेश कम कर सकता है और उसकी अर्थव्यवस्था को पश्चिम एशियाई राजनीति का हमेशा के लिए बंधक बना सकता है, सवाल अब यह नहीं है कि यह एक गलती थी या नहीं। सवाल यह है कि क्या इसे सुधारने के लिए अब भी समय और इच्छाशक्ति शेष है। ■

गुरदीप सिंह सप्पल कांग्रेस कार्यकारी समिति के स्थायी आमंत्रित सदस्य हैं

क्या ट्रंप हार का मुंह देखने को मजबूर होंगे?

केंट के इस्तीफे ने वह जाहिर कर दिया जो ट्रंप टीम के कई लोग सोचते तो हैं लेकिन खामोश हैं

आशीष रॉय

पश्चिम एशिया में चल रहा युद्ध जिस वक्त चरम पर था, 17 मार्च को एक वरिष्ठ अमेरिकी खुफिया अधिकारी ने अचानक इस्तीफा दे दिया। राष्ट्रीय आतंकवाद-विरोधी केन्द्र के निदेशक जो केंट ने एक्स पर पोस्ट किया, 'काफी सोच-विचार के बाद, मैंने अपने पद से इस्तीफा देने का फैसला किया है' जो ने आगे कहा, 'ईमानदारी की बात यह है कि मैं ईरान में चल रहे युद्ध का समर्थन नहीं कर सकता। ईरान से हमारे देश को तत्काल कोई खतरा नहीं था, और यह स्पष्ट है कि हमने यह युद्ध इसराइल और उसकी शक्तिशाली अमेरिकी लॉबी के दबाव में शुरू किया।' उन्होंने साफ तौर पर कहा कि ईरान पर हमला करने के लिए कोई उकसावा नहीं था और यह अनुचित था।

केंट के बयान ने एक तरह से वह विचार सार्वजनिक कर दिया जो ट्रंप कैबिनेट के कई सदस्य निजी तौर पर रखते तो हैं, लेकिन सार्वजनिक रूप से जाहिर नहीं करते। अफवाह तो यह भी है कि उपराष्ट्रपति जे.डी. वैंस भी ऐसा ही सोचते हैं। हालांकि, वैंस को अपने बॉस का समर्थन करने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति के ओवल ऑफिस में मीडिया के सामने पेश किया गया। उन्होंने कहा, और यह समाचार चैनलों पर लाइव प्रसारित भी हुआ कि उन्हें ट्रंप पर भरोसा है कि वह सुनिश्चित करेंगे कि 'अतीत की गलतियां' फिर न दोहराई जाएं। अब अगर वैंस 2028 में राष्ट्रपति पद का चुनाव लड़ते हैं, तो उनके लिए इस दो-तरफा धार वाले समर्थन से खुद को अलग करना मुश्किल हो सकता है।

सीएनएन ने रिपोर्ट किया, 'केंट ट्रंप और मागा (मेक अमेरिका ग्रेट अगेन / फिर अमेरिका) आंदोलन के कट्टर समर्थक थे।' एलोन मस्क के बाद, जो अल्पकालिक और अलोकप्रिय सरकारी दक्षता विभाग के प्रमुख नियुक्त होने के कुछ ही हफ्तों बाद इस्तीफा दे चुके थे, केंट का इस कार्यकाल में ट्रंप प्रशासन से इस्तीफा देना दूसरा सार्वजनिक और सुर्खियां बटोरने वाला मामला था। इससे ट्रंप शासन में दरार भी उजागर हुई, जो आगे और ज्यादा असहमति के रूप में सामने आ सकती है और शायद जनमत सर्वेक्षणों में उन पर असर डालने वाली भी होगी।

अमेरिका के राष्ट्रीय आतंकवाद विरोधी केन्द्र के निदेशक जो केंट जिन्होंने ईरान के खिलाफ युद्ध के विरोध में इस्तीफा दे दिया

जिस प्रेस कॉन्फ्रेंस में वैंस ने भाषण दिया, वहीं सवालों का जवाब देते हुए ट्रंप कहते दिखे कि किसी भी खुफिया जानकारी से यह संकेत नहीं मिला है कि अमेरिका-इसराइल हमले के जवाब में ईरान अपने अरब पड़ोसियों पर हमला कर सकता है। टिप्पणीकारों ने इसका मजाक उड़ाया, उनका कहना था कि चूंकि इन देशों में अमेरिकी सैन्य अड्डे हैं, इसलिए ऐसा होना स्वाभाविक था।

ट्रंप को लिखे अपने इस्तीफा पत्र में केंट ने आगे कहा, 'इस इको चैंबर (यानी इसराइली अधिकारी और मीडिया का एक वर्ग) का इस्तेमाल आपको यह भरोसा दिलाने के लिए किया गया कि ईरान संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए एक आसन्न खतरा है, और अगर आप अभी हमला कर देते हैं, तो जीत का रास्ता सामने है। यह पूरी तरह झूठ था और यही वह रणनीति है जिसका इस्तेमाल इसराइलियों ने हमें विनाशकारी इराक युद्ध में घसीटने के लिए किया था, जिसमें हमारे देश के हजारों उत्कृष्ट पुरुषों और महिलाओं ने अपनी जान गंवाई। हम यह गलती दोबारा नहीं दोहरा सकते।'

उन्होंने आगे कहा, 'आप चाहें तो अपना रुख बदल सकते हैं और हमारे देश के लिए एक नया मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं, अन्यथा आप हमें पतन और अराजकता की ओर और ज्यादा बढ़ने दे सकते हैं।'

वाशिंगटन से डेमोक्रेट सीनेटर पैटी मरे ने एक बार केंट को 'साजिशी सिद्धांतकार' कहा था। लेकिन यह निर्विवाद है कि केंट को सैन्य और खुफिया जानकारी छिपाने के मामले में व्यापक अनुभव है। अमेरिकी सेना में 20 साल के करियर में वह 11 युद्ध अभियानों में शामिल रहे और उसके बाद सीआईए (केन्द्रीय खुफिया एजेंसी) अधिकारी के रूप में काम किया। उनकी पहली पत्नी शैनन की 2019 में सीरिया में हुई एक घटना में मृत्यु हो गई थी, जब वह अमेरिकी नौसेना में बतौर क्रिप्टोलॉजिस्ट काम कर रही थीं।

ट्रंप ने हमेशा की तरह केंट की आलोचना करते हुए उन्हें 'सुरक्षा के मामले में बेहद कमजोर' बताया। ईरान पर बमबारी की शुरुआती लहर के बाद उन्होंने कहा था कि इससे अमेरिका के लिए 'तत्काल खतरा' पैदा हो गया है। लेकिन अमेरिकी युद्ध विभाग, पेंटागन द्वारा सीनेट और प्रतिनिधि सभा को दी गई जानकारी से संकेत मिलता है कि ईरान के पास ऐसी कोई योजना नहीं थी, जब तक कि उस पर पहले हमला न किया जाए।

ट्रंप दिखावटी तौर पर भले ही बहादुरी दिखा रहे हैं, लेकिन प्रतिक्रियाएं ही बताएंगी कि उन्होंने कितनी बड़ी गलती की है। उन्हें ईरान से इतने कड़े प्रतिरोध की उम्मीद नहीं की थी और जाहिर है कि इसीलिए यह भी नहीं सोचा होगा कि युद्ध इतना लंबा खिंच जाएगा। अब तक तो उन्हें यह भी समझ आ गया होगा कि बेंजामिन नेतन्याहू ने उन्हें धोखा दिया है। ऐसे में ट्रंप नेतन्याहू से नाता तोड़ सकते हैं, अचानक यह घोषणा कर सकते हैं कि अमेरिका इस युद्ध से बाहर निकल रहा है, लेकिन यह भी कि उन्हें अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए एक सुरक्षित रास्ता चाहिए- और ईरान इसके लिए तैयार नहीं है।

अमेरिका में हुए सर्वेक्षण बताते हैं कि अमेरिकी नागरिक, जिनमें रिपब्लिकन भी शामिल हैं, ईरान में जमीनी सैनिकों के प्रवेश के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन वाशिंगटन में ईरान के खारग द्वीप पर कब्जा करने के लिए सैनिकों की तैनाती की चर्चा चल रही है, जहां एक प्रमुख तेल निर्यात सुविधा स्थित है।

एक महीने से अधिक समय से, ईरान के दक्षिण में स्थित होर्मुज जलडमरूमध्य अमेरिकी नौसेना के जहाजों से अटा पड़ा है, जिनमें दो विमानवाहक पोत भी शामिल हैं। बताया जाता है कि सिंगापुर के तट पर एआईएस (स्वचालित पहचान प्रणाली) ट्रैकिंग डेटा के जरिये 'यूएसएस त्रिपोली' नामक एक उभयचर हमलावर जहाज (amphibious assault ship) का पता लगाया गया है। खबरों के अनुसार त्रिपोली पर 2,200 मरीन सैनिकों की रैपिड रेस्पांस फोर्स तैनात थी।

16 मार्च को व्हाइट हाउस में मीडिया से बातचीत के दौरान ट्रंप का रुख साफ नहीं था- उन्होंने संकेत दिया कि मिशन लगभग पूरा हो चुका है, लेकिन साथ ही यह भी कहा कि तेहरान उनकी शर्तों पर राजी नहीं है। हालांकि, उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि वे शर्तें क्या थीं। मंगलवार को उन्होंने अमेरिका के नाटो सहयोगियों पर जमकर निशाना साधा क्योंकि वे इस संघर्ष में 'शामिल नहीं होना चाहते'। अब अगर अमेरिका वाकई जीत की कगार पर था, तो उन्हें नाटो सहयोगियों से मदद मांगने की क्या जरूरत थी?

ईरान ने न सिर्फ दुश्मनी खत्म करने से साफ इनकार कर दिया है, बल्कि ट्रंप के इस गलत युद्ध ने फारस की खाड़ी में स्थित उसके अरब सहयोगियों की आर्थिकी को भी भारी नुकसान पहुंचाया है। ईरान द्वारा होर्मुज जलडमरूमध्य में तेल और गैस आपूर्ति पर रोक लगाने से उनके तेल और गैस इलाके ठप हो गए हैं। वित्तीय राजधानियों और समृद्ध पर्यटन स्थलों के रूप में उनकी प्रतिष्ठा को भारी नुकसान पहुंचा है। और युद्ध समाप्त होने के बाद भी, सुरक्षित और आकर्षक पर्यटन स्थलों के रूप में उनकी प्रतिष्ठा को फिर से हासिल करना एक कठिन चुनौती होगी।

लंदन में आयोजित आईआईएसएस (अंतरराष्ट्रीय सामरिक अध्ययन संस्थान) के पश्चिम एशिया युद्ध पर एक सेमिनार में, संयुक्त अरब अमीरात के एक विश्लेषक ने संकेत दिया कि इस युद्ध में बुरी तरह प्रभावित खाड़ी देशों को अपनी धरती पर अमेरिकी सैन्य ठिकानों के बारे में गंभीरता से पुनर्विचार करना होगा। जिस अमेरिकी सुरक्षा कवच पर वे दशकों से निर्भर थे, वह स्पष्ट रूप से उनके लिए विफल हो चुका है, और अब तेहरान शांति की शर्त के रूप में क्षेत्र में अमेरिकी ठिकाने बंद करने की मांग कर रहा है। अमेरिका के लिए, अपने सहयोगियों की रक्षा करने का वादा वास्तव में क्षेत्र में अपने रणनीतिक हितों की रक्षा करना है। इसलिए, वह यूं ही तो छोड़कर चला नहीं जाएगा, लेकिन यह भी कि अब इसके आश्वासनों पर ये सहयोगी कितना भरोसा कर पाएंगे? ■

ट्रंप दिखावटी तौर पर भले बहादुरी दिखा रहे हों, प्रतिक्रियाएं ही बताएंगी कि उन्होंने कितनी बड़ी गलती की है। उन्हें ईरान से ऐसे प्रतिरोध की उम्मीद नहीं थी। इसीलिए यह भी नहीं सोचा होगा कि युद्ध इतना लंबा खिंच जाएगा

विरोधियों को निशाना बनाने को एक और कानून?

130वें संशोधन विधेयक का मसौदा इसके राजनीतिक मकसद को उजागर करता है। यह अपराधियों को सत्ता से बाहर रखने के बारे में क्यों नहीं है

अजीत रानाडे

फरवरी के अंत में दिल्ली की एक अदालत ने आबकारी नीति मामले में सभी 23 आरोपियों को बरी कर दिया। अदालत ने अपने फैसले में कहा कि इस नीति के पीछे 'कोई साजिश या आपराधिक इरादा नहीं था।' आरोपियों में से एक ने बरी होने से पहले जेल में 530 दिन बिताए। इस मामले में अभियोजन पक्ष की कार्रवाई को दिशा देने वाले ईडी (प्रवर्तन निदेशालय) ने पिछले दस सालों में नेताओं के खिलाफ 193 मामले दर्ज किए लेकिन कुल जमा दो मामलों में सजा करा पाया, यानी सफलता की दर बामुश्किल एक फीसद!

अब इस पर गौर करें: हलफनामों में अपने खिलाफ लंबित आपराधिक मामलों की जानकारी देने वाले सांसद 2004 में 24 फीसद थे जबकि 2024 में इनका प्रतिशत बढ़कर 46 हो गया। देश में मौजूदा विधायकों में 45 फीसद पर आपराधिक आरोप हैं; इनमें से 29 फीसद पर हत्या, हत्या के प्रयास, अपहरण और महिलाओं के खिलाफ अपराध जैसे गंभीर आरोप हैं। राजनीति का यह अपराधीकरण एक कड़वी सच्चाई है, जो हमारे लोकतांत्रिक जीवन को खोखला कर रहा है।

यह संविधान (130वां संशोधन) विधेयक, 2025 अभी संयुक्त संसदीय समिति के पास है। यह विधेयक अनिवार्य करता है कि अगर प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री और कैबिनेट मंत्रियों को ऐसे आरोपों में लगातार 30 दिनों तक गिरफ्तार कर हिरासत में रखा जाता है, जिनके लिए पांच साल या उससे अधिक की सजा का प्रावधान हो तो उनका पद स्वतः जाता रहेगा। इसका उद्देश्य जेल से शासन चलाने की प्रथा को समाप्त करना है। हालांकि, इसका तरीका बेहद गलत है।

संसद में 130वां संविधान संशोधन विधेयक पेश करते गृह मंत्री अमित शाह। लेकिन अरविंद केजरीवाल और हेमंत सोरेन की गिरफ्तारियों के तरीकों पर कई सवाल

लंबित मामले का मतलब

याद रखें कि अदालत में लंबित कोई मामला न तो पुलिस की एफआईआर है, न ही किसी हिस्ट्री-शीटर की फाइल में दर्ज कोई टिप्पणी, और न ही किसी राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी द्वारा दर्ज कराई गई कोई शिकायत। आरोप तभी तय किए जाते हैं, जब जांच-पड़ताल पूरी हो जाए, अदालत ने अपराध का संज्ञान ले लिया हो, और कोई न्यायाधीश स्वतंत्र रूप से यह निर्धारित कर ले कि प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है। यह न्यायिक विवेक का विषय होता है। किसी भी ऐसे आपराधिक दाग वाले आम नागरिक को सरकारी नौकरी नहीं मिल सकती।

फिर भी, अलग-अलग पार्टियों के नेता अक्सर तर्क देते हैं कि उनके खिलाफ ऐसे सभी मामले झूठे या राजनीति प्रेरित हैं। बलात्कार, हत्या, अपहरण और जबरन वसूली जैसे जघन्य अपराधों के मामलों में भी ऐसा कैसे हो सकता है?

गलत आधार

इस बिल के साथ दिक्कत यह है कि यह किसी को पद से हटाने के लिए अदालत द्वारा आरोप तय किए जाने के बजाय, गिरफ्तारी- जो कि एक प्रशासनिक कार्रवाई है- को आधार बनाता है। जांच एजेंसियां किसी को दोषी ठहराए बिना या औपचारिक सुनवाई के बिना भी गिरफ्तार कर सकती हैं। मनी लॉन्ड्रिंग रोकथाम अधिनियम (पीएमएलए) के तहत, जमानत की शर्तें लगभग नामुमकिन होती हैं। धारा 45 रिहाई के लिए दोहरी शर्तें लगाती है और धारा 24 सबूत देने का बोझ आरोपी पर डाल देती है। गैर-कानूनी गतिविधियां रोकथाम अधिनियम (यूएपीए) के तहत तो मुश्किलें और भी ज्यादा हैं। 30 दिनों में जमानत मिलना लगभग असंभव होता है।

इससे एक ऐसी ढांचागत कमजोरी पैदा होती है जिसका फायदा कोई भी सरकार अपने विरोधियों के खिलाफ उठा सकती है। विरोधी मंत्रियों को गिरफ्तार करके, उन्हें जमानत-विरोधी कानून के तहत 30 दिनों तक हिरासत में रखकर उन्हें पद से हटाया जा सकता है। यह तब भी हो सकता है जब किसी अदालत ने मामले की मेरिट की जांच भी न की हो। इस बिल में ऐसे दुरुपयोग के खिलाफ कोई सुरक्षा उपाय नहीं। 244वें विधि आयोग की रिपोर्ट में यह सिफारिश थी कि अयोग्यता तब लागू हो जब किसी सक्षम अदालत द्वारा आरोप तय किए जाएं।

ईडी के ही आंकड़े बता देते हैं कि यह क्यों जरूरी है। एजेंसी की पिछले एक दशक में दोषसिद्धि दर सिर्फ 1 फीसद रही। 2019 से इसकी पीएमएलए दोषसिद्धि दर मुश्किल से 6 फीसद फीसद रही। साफ है, ऐसी एजेंसियों की गिरफ्तारी को किसी के दोषी होने का पक्का सबूत नहीं माना जा सकता।

> इस बिल की दिक्कत है कि यह किसी को पद से हटाने के लिए अदालत द्वारा आरोप तय किए जाने के बजाय, गिरफ्तारी को आधार बनाता है। जांच एजेंसियां किसी को दोषी ठहराए बिना या औपचारिक सुनवाई के बिना भी गिरफ्तार कर सकती हैं

दोषसिद्धि दर का विरोधाभास

इसका एक जवाबी तर्क भी है। एनसीआरबी (राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो) के आंकड़े बताते हैं कि निचली अदालतों में दोषसिद्धि दर चिंताजनक रूप से कम है। पुणे की निचली न्यायपालिका में 2023 में दोषसिद्धि दर केवल 8.8 फीसद थी। जिनपर आपराधिक मुकदमा चला, उनमें से 91 फीसद को बरी कर दिया गया। यदि यह प्रवृत्ति बनी रहती है, तो कोई भी ऐसा कानून जो लंबित अदालती मामलों वाले व्यक्तियों को सार्वजनिक पद धारण करने से रोकता है, बेमानी होगा।

यह कोई मामूली बात नहीं। यह इसके मूल तक जाती है कि भारतीय न्यायिक संदर्भ में एक लंबित मामला वास्तव में किस बात का संकेत है। क्या यह वास्तविक अपराध को दर्शाता है, या अभियोजन और जांच की एक टूटी हुई व्यवस्था को?

इस विरोधाभास का सही जवाब यह नहीं है कि दागी उम्मीदवारों को सार्वजनिक जीवन से बाहर रखने के प्रोजेक्ट को ही छोड़ दिया जाए। सही जवाब यह है कि जो चीजें खराब हो गई हैं, उन्हें ठीक किया जाए। मौजूदा विधायकों के खिलाफ मुकदमों की सुनवाई तेजी से हो, जैसा कि सुप्रीम कोर्ट ने 2014 में और फिर 2017 में कहा था। सीआरपीसी की धारा 321 के तहत ताकतवर नेताओं के खिलाफ केस वापस लेने की सरकार के अधिकार पर रोक लगनी चाहिए। साथ ही, जांच एजेंसियों को अदालतों के सामने सबूतों के मानकों पर खरा उतरना होगा, न कि राजनीतिक दबाव का औजार बनना होगा।

अन्य कमियां

यह बिल अपने ही बताए तर्क पर भी खरा नहीं उतरता। हिरासत से रिहा होने पर मंत्री पद पर दोबारा नियुक्ति की अनुमति अनुच्छेद 75(5ए) और 164(4ए) के प्रावधानों में है। जेल में 30 दिन बिताने के बाद हटाए गए मंत्री जमानत पर उसी पद पर वापस आ सकते हैं, जबकि उन पर लगे आरोप अभी भी लंबित हों। एक छोटी सी रुकावट के अलावा, कुछ भी नहीं बदला। यह बिल सिर्फ मंत्रियों पर लागू होता है, जबकि उन सैकड़ों सांसदों और विधायकों को छोड़ दिया गया है, जिनपर गंभीर आरोप लगे हों। यह बिल दागी उम्मीदवारों को चुनावी मैदान में उतरने से रोकने के लिए भी कुछ नहीं करता।

यह असली सुधार नहीं

25 साल से भी ज्यादा समय से संभावित समाधान को कागजों से बाहर नहीं निकाला गया। वोहरा समिति (1993) की सिफारिशें, 170वें और 244वें विधि आयोग की रिपोर्ट के अलावा संविधान के कामकाज की समीक्षा के लिए राष्ट्रीय आयोग से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक ने (2018 में पब्लिक इंटरेस्ट फाउंडेशन बनाम भारतीय संघ मामले में) संसद से अनुरोध किया कि वह ऐसे उम्मीदवारों को अयोग्य घोषित करे, जिनके खिलाफ संबंधित चुनाव से कम-से-कम छह महीने पहले मामले दर्ज किए गए हों, और अदालत द्वारा आरोप तय किए जाने के चरण में ही, पांच साल या उससे ज्यादा की सजा वाले अपराधों के आरोप हों। जघन्य अपराधों में दोषी पाए जाने पर अयोग्यता स्थायी होनी चाहिए। साथ ही, राजनीतिक दलों को आरटीआई एक्ट के दायरे में लाया जाना चाहिए। 'नोटा' को और मजबूत किया जाना चाहिए।

एडीआर द्वारा 130वें संशोधन के लिए प्रस्तावित नए मसौदे में कहा गया है कि कोई भी मंत्री, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, सांसद या विधायक- जिनके खिलाफ अदालत ने 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम' की धारा 8(1), (2) और (3) के तहत अपराधों के लिए, या ऐसे अपराधों के लिए जिनमें कम से कम पांच साल की सजा का प्रावधान हो, आरोप तय कर दिए हैं- उन्हें अपने पद से स्वतः ही मुक्त कर दिया जाना चाहिए। यह एक न्यायिक मानक है। विधि आयोग ने भी बार-बार यही सिफारिश की है।

किसी भी लोकतंत्र को न तो राजनीति के अपराधीकरण का बंधक बनाया जा सकता है, और न ही ऐसे कानूनों का, जिनका इस्तेमाल राजनीतिक स्वार्थों के लिए, औजार के तौर पर हो सके। 130वें संशोधन का मौजूदा मसौदा जहां एक ओर, राजनीति के अपराधीकरण से निपटने में पूरी तरह बेअसर साबित हो सकता है वहीं दूसरी ओर, इससे कानूनों का दुरुपयोग खतरनाक हद तक बढ़ सकता है। ■

अजित रानाडे जाने-माने अर्थशास्त्री हैं। सौजन्य: द बिलियन प्रेस

बिना सिद्धांतों की विदेश नीति...

...की समीक्षा की जा सकती है। अच्छा शुरुआती बिंदु हो सकता है मनमोहन सिंह का पंचशील

आकार पटेल

4 नवंबर 2013 को, तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने भारतीय मिशनों के 120 से अधिक प्रमुखों से बात की और उन पांच सिद्धांतों की रूपरेखा रखी, जिनसे उनकी सरकार की विदेश नीति परिभाषित होती थी। ये सिद्धांत थे: पहला, यह समझ और मान्यता कि दुनिया के देशों—खासकर बड़ी शक्तियों और एशियाई पड़ोसियों—के साथ भारत के संबंध उसकी विकास संबंधी जरूरतों और प्राथमिकताओं से तय होते हैं। मनमोहन सिंह ने कहा कि "भारतीय विदेश नीति का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य ऐसा वैश्विक माहौल बनाना होना चाहिए जो हमारे महान देश के कल्याण के लिए अनुकूल हो।"

दूसरा, यह कि विश्व अर्थव्यवस्था के साथ अधिक जुड़ाव भारत के लिए लाभकारी होगा और इससे भारतीयों को अपनी रचनात्मक क्षमता को साकार करने का अवसर मिलेगा। तीसरा, सभी प्रमुख शक्तियों के साथ स्थिर, दीर्घकालिक और पारस्परिक रूप से लाभकारी संबंध स्थापित करना। अंतरराष्ट्रीय समुदाय के साथ मिलकर ऐसा वैश्विक आर्थिक और सुरक्षा वातावरण बनाना जो सभी देशों के लिए लाभकारी हो।

चौथा, यह पहचानना कि भारतीय उपमहाद्वीप के साझा भविष्य के लिए ज्यादा क्षेत्रीय सहयोग और कनेक्टिविटी की जरूरत है। पांचवां, एक ऐसी विदेश नीति जो सिर्फ हितों से ही नहीं, बल्कि उन मूल्यों से भी तय हो जो भारतीयों को प्रिय हैं: 'एक बहुलवादी, धर्मनिरपेक्ष और उदार लोकतंत्र के दायरे में आर्थिक विकास करने के भारत के प्रयोग ने दुनिया भर के लोगों को प्रेरित किया है और इसे आगे भी ऐसा ही करते रहना चाहिए।' यह इस बात की साफ व्याख्या थी कि क्या हासिल करने की कोशिश की जा रही थी।

भारत अपनी विदेश नीति का इस्तेमाल अपने आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने के लिए करेगा; वह दुनिया की बड़ी ताकतों और अपने पड़ोसियों के साथ दोस्ताना संबंध रखेगा; और ऐसा करने में उसे एक बहुलवादी और धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र बने रहने से मदद मिलेगी।

मैं मौजूदा सरकार की विदेश नीति के सिद्धांतों पर चर्चा नहीं करूंगा, खासतौर से इसलिए क्योंकि उसके पास कोई सिद्धांत हैं ही नहीं। यह न तो कोई आरोप है और न ही कोई हल्की-फुल्की टिप्पणी; मैंने एक किताब में पूरा अध्याय लिखकर समझाया है कि ऐसा क्यों है। दरअसल, स्थिति यह है कि विदेश मंत्री न केवल यह स्वीकार करते हैं कि हमारी नीति के कोई सिद्धांत नहीं हैं, बल्कि वह कहते हैं कि सिद्धांतों का अभाव ही हमारी नीति का आधार है।

अपने लेखों और भाषणों के संकलन वाली एक पुस्तक में उन्होंने स्पष्ट किया है कि उनका आशय क्या है। उनके अनुसार, भारत एक "बहुध्रुवीय एशिया" चाहता है, यानी ऐसा एशिया जिसमें भारत चीन की बराबरी का दावा कर सके। लेकिन इसे हासिल करने का कोई तरीका वह नहीं बताते; वह बस यह मान लेते हैं कि केवल हमारी इच्छा भर से ऐसा हो जाएगा।

वह लिखते हैं कि कई गेंदों को एक साथ हवा में बनाए रखने की जादूगरी दिखानी होगी (जयशंकर को तैयार मुहावरों का इस्तेमाल करने का खास शौक है) और भारत उन्हें कुशलता से संभाल लेगा। यह दरअसल अवसरवाद है, लेकिन उनके अनुसार इसमें कोई बुराई नहीं है, क्योंकि अवसरवाद ही भारत की संस्कृति है।

> विदेश मंत्री न केवल यह स्वीकार करते हैं कि हमारी नीति का कोई सिद्धांत नहीं है, बल्कि वे यह भी कहते हैं कि सिद्धांतों का अभाव ही हमारी नीति का आधार है। उनके अनुसार, अवसरवाद में कोई बुराई नहीं है, क्योंकि यही भारत की संस्कृति है

जयशंकर लिखते हैं कि महाभारत से यही सबक मिलता है कि छल और अनैतिकता दरअसल केवल "नियमों के अनुसार न खेलने" का ही रूप हैं। द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य से उसका अंगूठा मांगना, इंद्र द्वारा कर्ण का कवच छीन लेना, और अर्जुन का शिखंडी को मानव ढाल के रूप में इस्तेमाल करना—ये सब उनके अनुसार सिर्फ "प्रथाएं और परंपराएं" थीं। नीति में असंगति भी न केवल स्वीकार्य है बल्कि आवश्यक है, क्योंकि बदलती परिस्थितियों में "निरंतरता को लेकर अत्यधिक आग्रह करना" बहुत महत्वपूर्ण नहीं है।

यह एक ऐसे व्यक्ति की बात है जो किसी ठोस आधार न रखने वाली बात को भी शब्दों में इस तरह ढाल सकता है कि वह तर्कसंगत लगे। लेकिन ऐसे सिद्धांत को क्या नाम दिया जाए? एक भाषण में, जहां उन्होंने पहली बार अवसरवाद और असंगति के इस सिद्धांत को सामने रखा, जयशंकर ने कहा कि इसे कोई नाम देना कठिन है। वह 'मल्टी-अलाइनमेंट' जैसे शब्द को उठाकर छोड़ देते हैं (कहते हैं कि यह बहुत अवसरवादी लगता है) और 'इंडिया फर्स्ट' को भी खारिज कर देते हैं (क्योंकि यह स्वार्थी प्रतीत होता है)। अंततः वह "समृद्धि और प्रभाव को आगे बढ़ाना" इस वाक्यांश पर ठहरते हैं, जिसे वह सही तो मानते हैं, लेकिन यह भी स्वीकार करते हैं कि यह बहुत आकर्षक या प्रभावी नहीं लगता।

उनका मानना है कि यदि इस नीति को लंबे समय तक अपनाया गया, तो अंततः इसका कोई न कोई नाम अपने-आप सामने आ जाएगा, क्योंकि चुनौती का एक कारण यह भी है कि हम अभी एक बड़े परिवर्तन के शुरुआती चरण में ही हैं।

यह कुछ समय पहले, इस सरकार के दूसरे कार्यकाल के दौरान प्रकाशित हुई थी। लेकिन जैसा कि हम अपने चारों ओर देख सकते हैं, दुनिया बदल चुकी है। यह अधिक अनिश्चित हो गई है और खासकर उन देशों के लिए अधिक खतरनाक भी हो गई है, जो हमारी तरह ऊर्जा और बाहरी रोजगार—खासकर खाड़ी देशों—पर निर्भर हैं।

डॉनल्ड ट्रंप ने तीसरा खाड़ी युद्ध शुरू करने के लिए कोई ठोस कारण नहीं दिया है और न ही उन्होंने सामरिक उद्देश्यों के अलावा ऐसे किसी स्पष्ट लक्ष्य को सामने रखा है जिसे वह हासिल करना चाहते हों।

अमेरिका के रक्षा मंत्री अपनी प्रेस ब्रीफिंग में पूरी तरह अस्थिर और अक्षम दिखाई देते हैं। यह युद्ध कैसे समाप्त होगा, इसका किसी को पता नहीं है, क्योंकि इसका अंत कब और कैसे होगा, इसमें ईरान की भी अहम भूमिका होगी। ईरान पर हमले में इसराइल की भागीदारी से यह युद्ध खास तौर पर चिंताजनक बन गया है, क्योंकि अमेरिका की तरह वह चाहकर भी अचानक पीछे नहीं हट सकता। वह इस क्षेत्र का ही हिस्सा है और परमाणु हथियारों से लैस है।

ऐसे समय में भारत को क्या करना चाहिए और उसे कौन-सी नीति अपनानी चाहिए? संभव है कि हम वही करके आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हों, जिसकी सलाह जयशंकर देते हैं। हम जो कर रहे हैं, उसे देखकर ऐसा लगता है कि हमने अवसरवाद की ही राह अपनाई है। युद्ध शुरू होने से कुछ ही घंटे पहले, जब सैन्य तैयारियां पूरी हो चुकी थीं, हम तेल अवीव गए थे और एक पदक ग्रहण किया था, मानो आने वाली घटनाओं का समर्थन कर रहे हों।

हम ईरान में अमेरिका और इसराइल के हाथों की जाने वाली हत्याओं की निंदा करने से भी कतराए हैं—चाहे वह स्कूली लड़कियों की सामूहिक हत्या हो या युद्ध की औपचारिक घोषणा के बिना नाविकों की हत्या। जहां हमें कोई अवसर दिखाई देता है—जैसे कुछ टैंकरों को सुरक्षित बाहर निकाल लेना—वहां हम उसका इस्तेमाल कर रहे हैं। लाभ उठा लेते हैं।

शांति स्थापित करने या नियम-आधारित व्यवस्था को फिर से कायम करने की बड़ी प्रक्रिया में हमारी कोई भूमिका नहीं है, क्योंकि हमारा सिद्धांत अवसरवाद बन गया है। इसका मतलब है दुनिया को आकार देना नहीं, बल्कि जहां मौका मिले वहां अल्पकालिक लाभ उठा लेना।

संभव है कि यह तरीका काम कर जाए, लेकिन उतनी ही संभावना यह भी है कि यह काम न करे। इसलिए हमें फिर से मूल सिद्धांतों की ओर लौटना चाहिए। भारत की विदेश नीति के बारे में मनमोहन सिंह ने जो कहा था—उसका उद्देश्य क्या था और वह किस कारण से बनाई गई थी—इस पर दोबारा विचार करना एक अच्छी शुरुआत हो सकती है। ■

नरेन्द्र मोदी सरकार ने पूर्ववर्ती मनमोहन सरकार की विदेश नीति को तिलांजलि दे दी है

शुक्र है, 'फोर्टिफाइड' चावल बांटने पर रोक लगी

एक बड़ी आबादी के लिए यह पोषण नहीं था और इससे उनके स्वास्थ्य पर गंभीर संकट मंडरा रहा था

फोटो: गेटी इमेजेज

फोर्टिफाइड चावल का वितरण अनिवार्य करना और फिर रोक लगाना बताता है कि सरकार कैसे काम करती है

पंकज चतुर्वेदी

आखिरकार, सरकार को अपने उस आदेश को वापस लेना ही पड़ा जिसके तहत विभिन्न सार्वजनिक वितरण तंत्र के जरिये 'फोर्टिफाइड' चावल के वितरण को अनिवार्य किया गया था। दरअसल, इस बात के कोई प्रमाण थे ही नहीं कि इस तरह तैयार चावल रक्त-अल्पता (एनीमिया) से लड़ने में कारगर है। आईआईटी, खड़गपुर की एक रिपोर्ट में इनके भंडारण को मानव स्वास्थ्य के लिए घातक बताया गया था।

संवर्धित चावल के निर्माण की तकनीक, जिसे 'एक्सट्रूजन' कहा जाता है, सैद्धांतिक रूप से तो सटीक लगती है, लेकिन जमीन पर इसे तैयार करने में भारी खामियां हैं। कहा तो यह गया कि चावल के दानों में कृत्रिम रूप से लौह तत्व और विटामिन मिलाकर देश की एक बड़ी आबादी को 'छिपी हुई भूख' से मुक्त किया जा सकता है। किंतु, इस महत्वाकांक्षी योजना के पीछे छिपे स्वास्थ्य जोखिम और निर्माण प्रक्रिया की अनिश्चितता पर गंभीर विमर्श किए बिना ही इसे बांटा जाने लगा। बिना किसी वैज्ञानिक प्रमाण या प्रायोगिक नतीजे के ही महज पायलट प्रोजेक्ट की आड़ में सारे देश में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के जरिये इस चावल को बड़ी आबादी के बीच बांटा जा रहा था। ये संकट के बादल हैं, यह बात न तो वितरण करने वाली सरकार जानती थी और न ही खाने वाला।

तरीका यह था कि सबसे पहले टूटे हुए चावल के दानों को पीसकर आटा बनाया जाता था। इस आटे में आयरन (लोहा), फोलिक एसिड और विटामिन बी12 का एक निर्धारित मिश्रण मिलाया जाता था। इसमें जिंक, विटामिन ए, बी1, बी2, बी3 और बी6 भी मिलाया जा रहा था। इस मिश्रण में पानी मिलाकर इसे एक 'एक्सट्रूडर' मशीन में डाला जाता था जो इसे ठीक चावल के दाने जैसा आकार देती था। इन्हें फोर्टिफाइड राइस कर्नेल कहा जाता है। अंत में, इन कृत्रिम दानों को सामान्य चावल के साथ 1:100 के अनुपात में मिलाया जाता था, यानी 100 किलो सामान्य चावल में एक किलो फोर्टिफाइड दाना।

भारत में केन्द्रीय पूल में चावल का कुल भंडार लगभग 679.32 लाख टन तक पहुंच गया है, जो कि निर्धारित बफर मानदंड - लगभग 76.1 लाख टन - से 9 गुना अधिक है। इसके बावजूद सार्वजनिक वितरण प्रणाली में 'फोर्टिफाइड', यानी संवर्धित चावल के वितरण को अनिवार्य कर दिया जाना कई सवाल खड़े कर रहा था। देश के सभी सार्वजनिक वितरण दुकान और आंगनवाड़ी आदि में कोई 350 लाख मीट्रिक टन फोर्टिफाइड चावल के वितरण की व्यवस्था की गई थी। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (आईसीएमआर) के विशेषज्ञों का स्पष्ट कहना है कि इस तरह के चावल सभी के लिए एकसमान लाभकारी नहीं हैं, खासकर थैलेसीमिया और सिकल सेल एनीमिया जैसी आनुवंशिक बीमारियों से पीड़ित लोगों के लिए तो कतई नहीं। ऐसे मरीजों के शरीर में पहले से ही आयरन की अधिकता होती है, और आयरन युक्त चावल खाने से उनके अंगों के खराब होने का खतरा बढ़ सकता है। यह बात सरकारी रिपोर्ट में दर्ज है कि सरकार ने पायलट प्रोजेक्ट्स की विफलता को छिपाया। नीति आयोग की एक गोपनीय रिपोर्ट में कहा गया कि ये प्रोजेक्ट्स बुनियादी रूप से दोषपूर्ण हैं और ये चावल के पोषण संबंधी प्रभाव का कोई ठोस वैज्ञानिक प्रमाण नहीं दे सके।

भारत के जनजातीय क्षेत्रों में थैलेसीमिया और सिकल सेल एनीमिया-जैसे रोगों का प्रसार व्यापक है। चिकित्सा विज्ञान के अनुसार, इन रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के शरीर में लौह तत्व (आयरन) का संचय प्राकृतिक रूप से अधिक होता है। ऐसे मरीजों को नियमित रूप से लौह-संवर्धित चावल खिलाया जाए, तो उनके शरीर में 'आयरन ओवरलोड' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह अतिरिक्त लोहा उनके यकृत (लीवर), हृदय और गुर्दों को धीरे-धीरे नष्ट कर सकता है। विडंबना यह है कि जिन क्षेत्रों में इन बीमारियों का प्रकोप सबसे अधिक है, वहां सरकारी राशन ही भोजन का एकमात्र साधन है। इनके पैकेटों पर चेतावनी बारीक तरीके से लिखी तो होती है लेकिन ग्रामीण और निरक्षर आबादी इसे समझती तो है नहीं। आखिर, हम-आप ही मुचुअल फंड और बैंक आदि के फॉर्म भरते समय छोटे प्वाइंट में लिखे कितने निर्देश पढ़ते-समझते हैं जबकि ये जरूरी होते हैं। ऐसे ही, इन पैकेटों वाले चावल लेने से अनजाने में ही एक बड़ा वर्ग स्वास्थ्य संकट की ओर धकेला जा रहा था।

इसे एक अन्य तरीके से समझा जा सकता है। मानव आंतों में करोड़ों 'अच्छे बैक्टीरिया' होते हैं जो पाचन और प्रतिरक्षा प्रणाली के लिए जिम्मेदार हैं। शोध बताते हैं कि जब हम 'सिंथेटिक आयरन' (कृत्रिम लोहा) का अधिक सेवन करते हैं, तो वह पूरी तरह अवशोषित नहीं हो पाता। बचा हुआ लोहा आंतों में हानिकारक बैक्टीरिया (जैसे ई-कोलाई) की वृद्धि में सहायक होता है, जिससे लाभकारी बैक्टीरिया नष्ट हो जाते हैं। इससे दीर्घकाल में पाचन संबंधी गंभीर रोग उत्पन्न हो सकते हैं। शरीर में लोहे की अधिकता 'फ्री रेडिकल्स' पैदा करती है, जिससे कोशिकाओं में 'ऑक्सीडेटिव स्ट्रेस' बढ़ता है। यह स्थिति समय से पहले बुढ़ापा, मधुमेह और हृदय रोगों के खतरे को बढ़ा सकती है। प्राकृतिक भोजन में मौजूद एंटीऑक्सीडेंट इस प्रभाव को कम करते हैं, लेकिन केवल फोर्टिफाइड चावल के सेवन से यह संतुलन बिगड़ जाता है।

टूटे हुए चावल के आटे में पोषक तत्वों का मिश्रण मिलाकर उसे मशीन से दोबारा चावल का आकार देने की प्रक्रिया में गुणवत्ता मानकों की भारी अनदेखी हो रही थी। अनेक चावल मिलों में पोषक तत्वों के मिश्रण (प्रीमिक्स) की मात्रा का सही संतुलन नहीं रखा जा रहा था - कहीं लौह तत्व की मात्रा निर्धारित सीमा से बहुत अधिक हो जाती थी, तो कहीं नगण्य। मशीनों के अत्यधिक तापमान के कारण संवेदनशील विटामिन, जैसे विटामिन बी-12, अपनी प्रभावशीलता खो दे रहे थे। इसके अतिरिक्त, निर्माण में उपयोग किए जाने वाले कच्चे माल और रसायनों की शुद्धता पर भी कोई कड़ा नियंत्रण नहीं था। यही कारण है कि पकाते समय इस चावल का स्वाद और गंध बदल जाता था जिससे आम जनता के मन में इसके 'प्लास्टिक चावल' होने का भ्रम पैदा होता था और कई बार वे इसे फेंक तक देते थे।

सार्वजनिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में 'एक ही दवा सबको' (यूनिवर्सल मेडिकेशन) की नीति अक्सर प्रतिकूल परिणाम देती है। एनीमिया के कई कारण हो सकते हैं, जिनमें स्वच्छता का अभाव, पेट के कीड़े या अन्य संक्रमण शामिल हैं। केवल चावल में लोहा मिलाकर पूरी आबादी को खिलाना एक अदूरदर्शी कदम प्रतीत होता है। विशेषज्ञों का मानना है कि कृत्रिम रूप से जोड़े गए खनिजों की तुलना में प्राकृतिक भोजन - जैसे, हरी सब्जियां, दालें और मोटे अनाज - से मिलने वाले पोषक तत्व शरीर में बेहतर अवशोषित होते हैं।

भंडारण के दौरान नमी और तापमान के कारण इन कृत्रिम दानों में ऑक्सीकरण (ऑक्सीडेशन) की प्रक्रिया शुरू हो सकती है, जो चावल को विषाक्त बना सकती है। गुणवत्ता ऑडिट की कमी और ठेकेदारी प्रथा ने इस पोषण अभियान को महज एक व्यावसायिक गतिविधि में बदल दिया है। इस तरह से कारखाने में बने चावल खेतों के लिए भी चुनौती हैं। जब सरकार केवल चावल के फोर्टिफिकेशन पर अरबों रुपये खर्च करती है, तो पूरा ध्यान 'धान' की खेती और वितरण पर केन्द्रित हो जाता है। इससे बाजरा, रागी, कोदो और ज्वार जैसे 'श्री अन्न' (मोटे अनाज), जो प्राकृतिक रूप से पोषक तत्वों से भरपूर हैं, हाशिये पर चले जाते हैं। भारत में चावल की हजारों देशी किस्में (जैसे काला नमक, लाल चावल, जोहा आदि) उपलब्ध हैं, जिनमें स्वाभाविक रूप से जिंक और आयरन होता है। कृत्रिम संवर्धन की नीति इन प्राकृतिक रूप से समृद्ध किस्मों के संरक्षण के बजाय मशीनी चावल को प्राथमिकता दे रही है।

फोर्टिफाइड चावल को कुपोषण का अंतिम सत्य मान लेना एक बड़ी भूल थी। यह एक 'आपातकालीन हस्तक्षेप' तो हो सकता है, लेकिन यह कभी भी 'संपूर्ण पोषण' का विकल्प नहीं बन सकता। सरकार को कई वर्षों बाद यह बात समझ में आ गई और शुक्र है कि उसने 27 फरवरी से 'फोर्टिफाइड' चावल के वितरण पर रोक लगा दी है। वैसे, सरकार को उन क्षेत्रों में गैर-संवर्धित सामान्य चावल का विकल्प भी खुला रखना चाहिए जहां आनुवंशिक बीमारियों का प्रसार अधिक है। हमें तकनीक से अधिक अपनी मिट्टी की विविधता और जैव-विविधता पर भरोसा करना होगा। ■

न जांच और न शोध, सरकार ने अप्रैल 2022 में राशन में 'फोर्टिफाइड' चावल के वितरण को अनिवार्य कर दिया था। जनजातीय क्षेत्रों में थैलेसीमिया और सिकल सेल एनीमिया-जैसे रोगों का प्रसार व्यापक है। उन्हें भी यह चावल दिया जा रहा था। यह उन्हें गंभीर रूप से बीमार कर रहा था

जब अपनी ही छवि से डरने लगे व्यवस्था

प्रतिबंधित संस्मरण से लेकर प्रतिबंधित पाठ्यपुस्तक अध्याय तक, सेंसरशिप का यह माहौल चिंताजनक है

अभय शुक्ला

इन दिनों दिल्ली पर सेंसरशिप की बदली छाई हुई है, जिसने दो किताबों को अपने घेरे में ले लिया है- एक में शायद कोई सरकारी राज छुपे होने की बात है, दूसरी में सच को सच कह देने का मामला।

अजब-गजब और हास्यास्पद स्थिति है, द्वितीय विश्व युद्ध के उस चर्चित किस्से की याद दिलाती हुई, जब एक व्यक्ति ने चर्चिल को सार्वजनिक रूप से मूर्ख कह दिया और उसे तत्काल गिरफ्तार कर लिया गया। विपक्षी सांसदों ने इस पर संसद में विरोध जताया कि इंग्लैंड एक पुलिस राज्य बनता जा रहा है जहां अभिव्यक्ति की आजादी पर अंकुश लगाया जा रहा है। इस पर चर्चिल ने बात साफ की, कि उस व्यक्ति के खिलाफ कार्रवाई इसलिए नहीं की जा रही है कि उसने प्रधानमंत्री को मूर्ख कहा था, बल्कि इसलिए की जा रही है क्योंकि उसने एक सरकारी राज को उजागर किया था। दुर्भाग्य से, हमारे संस्थानों में हास्य की यह भावना गायब है, और लंबे समय से इसकी जगह धार्मिकता और विशेषाधिकार की भावना गहरे बिठा दी गई है।

हम शायद कभी जान ही न पाएं कि जनरल नरवणे की किताब में कौन से आधिकारिक राज थे, जिनके कारण इस सरकार ने इसके प्रकाशन या संसद में इस पर चर्चा की भी अनुमति नहीं दी। लेकिन एनसीईआरटी द्वारा प्रकाशित कक्षा 8 की सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तक को लेकर मचा बवाल कहीं ज्यादा गंभीर है और गहन चिंतन का मामला भी। क्या कोई सरकारी राज उजागर करने के बारे में चर्चिल की कही गई वह बात इस पर लागू होती है?

मैं तो व्यक्तिगत रूप से सर्वोच्च न्यायालय की उस प्रतिक्रिया की तल्खी देखकर स्तब्ध था, जब कुछ वकील यह पुस्तक उसके संज्ञान में लाए। मुख्य न्यायाधीश ने इसे "न्यायपालिका को कमजोर करने और डराने-धमकाने की सोची-समझी साजिश", "न्यायपालिका की गरिमा को ठेस पहुंचाने" वाला कदम और यहां तक कि "गहरी साजिश" करार दिया। उन्होंने "गहन जांच" का आदेश दिया और साथ ही यह भी कहा कि किसी को बख्शा नहीं जाएगा और "जिम्मेदार लोगों पर कार्रवाई होगी"। उन्होंने केन्द्र सरकार या एनसीईआरटी की माफी को स्वीकार करने से इनकार कर दिया।

किताब का वह अध्याय लिखने वाले तीनों शिक्षाविदों को काली सूची में डाल दिया गया है और उन पर भविष्य में किसी भी सरकारी संस्थान या विश्वविद्यालय से जुड़ने से पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया है। पुस्तक तत्काल प्रतिबंधित कर दी गई और सिडनी शेल्डन शैली में अब तक बेची गई सभी 38 प्रतियों का पता लगाने के लिए जांच शुरू हो गई। मेरा मानना है कि उनमें से लगभग 20 प्रतियां ही बरामद की गई हैं; लेकिन शेष प्रतियां छिपे हुए टाइम बमों की तरह हमारे लोकतंत्र के लिए गंभीर खतरा बनी हुई हैं।

सार्वजनिक तौर पर उपलब्ध जानकारी के अनुसार, यह कक्षा 8 के लिए सामाजिक विज्ञान की एक नई पाठ्यपुस्तक थी। इसमें 'हमारे समाज में न्यायपालिका की भूमिका' शीर्षक एक अध्याय था। बताया जाता है कि इसमें 'न्यायपालिका में भ्रष्टाचार' शीर्षक एक उप-अध्याय था, जिसे आपत्तिजनक माना गया।

इसमें न्याय मिलने में देरी के लिए न्यायाधीशों की अपर्याप्त संख्या, जटिल कानूनी प्रक्रियाएं, खराब बुनियादी ढांचा और भ्रष्टाचार जैसे कारकों को जिम्मेदार ठहराया गया है। ऐसा लगता है कि यही दूसरा बिंदु न्यायालय की नाराजगी का कारण बना, हालांकि संभवतः दस में से नौ भारतीय इन निष्कर्षों से सहमत ही होंगे।

इसके अलावा, जैसा कि न्यायालय का मानना प्रतीत होता है, यह पुस्तक निश्चित रूप से सिर्फ न्यायपालिका को ही निशाना नहीं बनाती। यह राज्य के अन्य अंगों की भी आलोचना करती है। 'द हिंदू' (13 मार्च 2026) के एक संपादकीय में कहा गया है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा लगाए गए प्रतिबंध में समस्या यह नहीं है कि पाठ्यपुस्तक चुनिंदा रूप से न्यायपालिका को निशाना बनाती है, बल्कि यह है कि न्यायपालिका चुनिंदा रूप से इसके कुछ हिस्सों को निशाना बनाती है।

एनसीईआरटी और जनरल नरवणे की किताबों पर रवैया खोलती है व्यवस्था की पोल

हमें सच्चाई से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए। भ्रष्टाचार अनादिकाल से हमारे सार्वजनिक जीवन का अभिन्न अंग रहा है, और सत्ताधारी तत्वों द्वारा इसे लगातार बढ़ावा दिया जाता रहा है। न्यायपालिका को अपवाद मानना एक भ्रम से ज्यादा कुछ नहीं है। इस वर्ष फरवरी में संसद में प्रस्तुत आंकड़े ही बताते हैं कि 2016 से 2025 के बीच मौजूदा न्यायाधीशों के खिलाफ 8,600 शिकायतें दर्ज की गईं।

2011 में, कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति सौमित्र सेन पर भ्रष्टाचार के आरोप में महाभियोग चलाया गया था; उन्होंने प्रक्रिया पूरी होने से पहले ही इस्तीफा दे दिया था, लेकिन उन पर कभी मुकदमा नहीं चलाया गया। 2018 में, न्यायाधिकरण के न्यायाधीश न्यायमूर्ति आर.के. मित्तल को भ्रष्टाचार के एक मामले में बर्खास्त कर दिया गया। न्यायमूर्ति यशवंत वर्मा का मामला ज्यादा पुराना नहीं है, जिनके आधिकारिक आवास से पिछले साल ही करोड़ों की अज्ञात नकदी कथित तौर पर बरामद हुई थी। मामला सुलझने के करीब भी नहीं पहुंचा और वह अब भी सेवा में बने हुए हैं।

परानजॉय गुहा ठाकुरता और अक्षयकांत दास की पुस्तक 'एक विवादास्पद न्यायाधीश' (2025) में इसके और भी उदाहरण मौजूद हैं। कानून का शासन सूचकांक (2024) में भारत 143 देशों में से 79वें स्थान पर है, यानी नीचे वाले आधे हिस्से में। निश्चित रूप से एनसीईआरटी की पुस्तक में उल्लिखित कारक इससे संबंधित हो सकते हैं।

न्यायिक निष्पक्षता की बुनियाद पर प्रहार करने वाले इस मुद्दे का समाधान डटकर सामना करने से होगा। अगर हम समाधान चाहते हैं तो इसे नजरअंदाज करने के बजाय इसका डटकर सामना करना होगा। प्रशांत भूषण कहते हैं, "न्यायपालिका जांच से परे नहीं है और जनता के प्रति जवाबदेह है एनसीईआरटी के पाठ्यक्रम में न्यायिक भ्रष्टाचार और देरी का जिक्र पारदर्शिता और जवाबदेही के संवैधानिक मूल्यों के अनुरूप है।"

दरअसल, अधिवक्ता और प्रख्यात कानूनविद्व गौतम भाटिया तो इसी बात पर सवाल उठाते हैं कि क्या संविधान का अनुच्छेद 19 सर्वोच्च न्यायालय को किसी पुस्तक पर प्रतिबंध लगाने का अधिकार देता भी है।

दुर्भाग्यपूर्ण है कि न्यायालय ने यह रास्ता चुना। मुख्य न्यायाधीश का यह आश्वासन कि "इसका उद्देश्य किसी भी आलोचना को दबाना नहीं है", दुर्भाग्य से कुछ ज्यादा भरोसा नहीं जगा पाता। यह सरकार एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकों में पहले ही काफी काट-छांट और संशोधन कर चुकी है, और हमें इससे ज्यादा की दरकार नहीं। शिक्षा को हमारे युवाओं को इस कठोर और अपूर्ण संसार में प्रवेश करने के लिए तैयार करना चाहिए, न कि न्यायिक आवरण के नीचे इसकी खामियों को छुपाना चाहिए। जैसा कि किसी ने सदियों पहले कहा थाः

"उमर भर ग़ालिब यही भूल करता रहा,
धूल चेहरे पे थी, आईना साफ करता रहा।" ■

न्यायिक निष्पक्षता की बुनियाद पर प्रहार करने वाले इस मुद्दे का समाधान डटकर सामना करने से होगा। संसद में प्रस्तुत आंकड़े बताते हैं कि 2016 और 2025 के बीच मौजूदा न्यायाधीशों के खिलाफ 8,600 शिकायतें दर्ज की गईं

अभय शुक्ला एक सेवानिवृत्त आईएएस अधिकारी और लेखक हैं। यह लेख सर्वप्रथम 15 मार्च, 2026 को द ट्रिब्यून में प्रकाशित हुआ था

किसे नागरिकता का अधिकार और क्यों?

भारत में रहने वाले श्रीलंकाई तमिल शरणार्थियों के लिए सीएए ने अलगाव की भावना को और भी तीव्र कर दिया है

के. ए. शाजी

तमिल शरणार्थी जिनके लिए दूर की कौड़ी बनी रहेगी चुनावों में हिस्सेदारी

तमिलनाडु में 23 अप्रैल को होने वाली वोटिंग के दौरान लोकतंत्र की प्रक्रिया हमेशा की तरह सटीक ढंग से संपन्न होगी। मतदान केन्द्र सुबह होते ही खुल जाएंगे, मतदाता भीषण गर्मी में कतारों में खड़े होंगे, और अमिट स्याही से चिह्नित उंगलियां गणतंत्र में उनकी भागीदारी की पुष्टि करेंगी। लेकिन राज्य भर में फैले सौ से अधिक शरणार्थी शिविरों में लगभग 60,000 श्रीलंकाई तमिल शरणार्थी दूर से इस प्रक्रिया को देखेंगे। इनमें से कई ऐसे होंगे जो युद्ध से भागते हुए बच्चे के रूप में यहां पहुंचे थे।

उनके बच्चे भारत में पैदा हुए, यहीं के स्कूलों में पढ़े, यहीं की राजनीति से प्रभावित हुए और यहीं के समाज में रचे-बसे। फिर भी, उनमें से कोई भी वोट नहीं दे पाएगा। सुरक्षा की तलाश में वे यहां आए और चार दशक बाद भी, वे उस देश के लोकतांत्रिक समझौते से बाहर हैं जिसे वे अपना घर कहते हैं।

यह बहिष्करण कोई नई बात नहीं है, लेकिन नागरिकता संशोधन अधिनियम (सीएए) पारित होने के बाद से यह और भी तीखा और पहले से कहीं अधिक स्पष्ट हो गया है।

कहानी की शुरुआत 1983 में हिंसा के एक सप्ताह बाद से होती है, जिसे 'काला जुलाई' कहा जाता है और जिसने श्रीलंका के इतिहास की दिशा बदल दी। तमिल उग्रवादियों द्वारा 13 सैनिकों की हत्या के बाद पूरे द्वीप में तमिल विरोधी दंगे भड़क उठे थे। भीड़ ने तमिल बहुल इलाकों पर हमला कर घरों और व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को जला दिया था। इस हिंसा में सैकड़ों लोग मारे गए और हजारों विस्थापित हुए। हिंसा एक गृहयुद्ध में तब्दील हो गई जो दो दशकों से अधिक समय तक चली। राज्य और उग्रवादी समूहों के बीच फंसे नागरिकों के लिए भागना ही एकमात्र विकल्प था।

कई लोग मछली पकड़ने वाली नावों और अस्थायी नौकाओं में बैठकर समुद्र के संकरे मार्ग को पार करके तमिलनाडु पहुंचे। 1980 और 1990 के दशक में ये आगमन कई चरणों में हुए। अपने चरम पर, भारत में 2,00,000 से अधिक श्रीलंकाई तमिल शरणार्थी रह रहे थे। अस्थायी आश्रय के रूप में शिविर स्थापित किए गए थे - वे तब लौटेंगे जब लौटना सुरक्षित होगा। लेकिन वह समय कभी नहीं आया।

जहां कई दसियों हजार लोग कस्बों और गांवों में रहते हैं, वहीं 58,000 से अधिक शरणार्थी रामनाथपुरम, तिरुचिरापल्ली, मदुरै, सलेम और कोयंबटूर में सरकारी शिविरों में रह रहे हैं... संकरी गलियों में छोटे-छोटे मकानों की कतारें हैं। स्कूल, छोटी दुकानें और चाय के स्टॉल रोजमर्रा की जिंदगी को चलाते हैं। राज्य सरकार की ओर से परिवारों को मासिक भत्ता, रियायती आवास और शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवाओं के रूप में मामूली सहायता प्राप्त होती है। समय के साथ, कई शरणार्थी दिहाड़ी मजदूर के रूप में स्थानीय कार्यबल में शामिल हो गए हैं, जबकि अन्य छोटे व्यवसाय चलाते हैं या कुशल व्यवसाय अपनाते हैं। सामाजिक और आर्थिक रूप से वे तमिलनाडु का हिस्सा हैं। पर कानूनी तौर पर वे तमिलनाडु के नागरिक नहीं हैं।

रामनाथपुरम जिले में मंडपम शिविर के एस. थर्मालिंगम कहते हैं, 'जब मैं आठ साल का था, तब हम यहां आए थे। उस समय हमने सोचा था कि कुछ सालों में वापस हो जाएंगे। अब मेरी उम्र चालीस से अधिक है। मेरे बच्चे यहीं पैदा हुए हैं। लेकिन हम अब भी शरणार्थियों की तरह ही जीवन यापन करते हैं।'

कानून के अनुसार, केवल नागरिक ही मतदान कर सकते हैं। नागरिकता न होने के कारण शरणार्थियों को मतदाता सूची में शामिल नहीं किया जा सकता। यह अंतर चुनावों के दौरान सबसे ज्यादा स्पष्ट होता है। प्रचार वाहन आस-पास के कस्बों में घूमते हैं, टेलीविजन पर होने वाली बहसें सार्वजनिक चर्चा का केन्द्र होती हैं और राजनीतिक दल वादे करते हैं। शिविर में रहने वाले लोग भी इन सभी गतिविधियों पर बारीकी से नजर रखते हैं। लेकिन मतदान के दिन वे अपने घरों में ही रहते हैं।

तिरुचिरापल्ली के पास कोट्टापट्टू शिविर में रहने वाली जयरानी सेल्वराज कहती हैं, 'हम भी बाकी लोगों की तरह खबरें देखते हैं और राजनीति पर चर्चा करते हैं। लेकिन जब चुनाव का दिन आता है, तो हम वोट नहीं दे पाते।' जयरानी का जन्म 1990 के दशक की शुरुआत में शिविर में हुआ था, जब उनके माता-पिता युद्ध से भागकर यहां आए थे। वह कहती हैं कि 'मैंने कभी श्रीलंका नहीं देखा। मेरा पूरा जीवन यहीं तमिलनाडु में बीता है। लेकिन जब लोग नागरिकता के बारे में पूछते हैं, तो हमें समझ नहीं आता कि क्या कहें।'

भारत में शरणार्थियों के लिए कोई समर्पित कानून नहीं है। श्रीलंकाई तमिल शरणार्थियों का प्रबंधन किसी स्पष्ट कानूनी ढांचे के बजाय प्रशासनिक व्यवस्थाओं के जरिये किया जाता है। उन्हें रहने की अनुमति तो है, लेकिन पूर्ण रूप से अपनापन महसूस नहीं होता। उन्हें कल्याणकारी सहायता तो मिलती है, लेकिन उनके अधिकार सीमित हैं। उनकी आवाजाही, रोजगार के अवसर और संपत्ति तक पहुंच प्रतिबंधित हैं।

जन्म से नागरिकता केवल उन्हीं लोगों को मिलती है जिनका जन्म 1 जुलाई 1987 से पहले हुआ हो। देशीकरण (नेचुरलाइजेशन) के लिए दस्तावेजीकरण और प्रशासनिक स्वीकृति की जरूरत होती है, जिसे हासिल करने में कई शरणार्थियों को कठिनाई होती है। आवेदन अक्सर वर्षों तक लंबित रहते हैं। समय बीतता जाता है, लेकिन उनकी कानूनी स्थिति अपरिवर्तित रहती है।

2019 के नागरिकता संशोधन अधिनियम ने पाकिस्तान, बांग्लादेश और अफगानिस्तान के गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों के लिए नागरिकता प्राप्त करने का एक त्वरित रास्ता दिया। इसे उत्पीड़ित समुदायों के लिए एक मानवीय उपाय के रूप में पेश किया गया था। श्रीलंकाई तमिल शरणार्थियों को इसमें शामिल नहीं किया गया है। सीएए उत्पीड़न की एक विशिष्ट अवधारणा पर आधारित है, जो धर्म के आधार पर परिभाषित है और केवल मुस्लिम-बहुसंख्यक देशों तक सीमित है। श्रीलंका इस ढांचे में फिट नहीं बैठता। जातीयता और भाषा पर आधारित तमिलों का उत्पीड़न इसके दायरे से बाहर है।

> सीएए उत्पीड़न की एक विशिष्ट अवधारणा पर आधारित है, जिसे धर्म के माध्यम से परिभाषित किया जाता है और जो केवल मुस्लिम-बहुसंख्यक देशों तक सीमित है। श्रीलंका इस ढांचे में फिट नहीं बैठता

इसका परिणाम बहिष्करण की एक नई रेखा है।

बांग्लादेश से भारत आने वाले शरणार्थी अब कम समय में नागरिकता प्राप्त करने के एक निश्चित मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं। वहीं, भारत में 40 साल से रह रहे एक श्रीलंकाई तमिल को अब भी अनिश्चितता और दुर्गमता का सामना करना पड़ता है। इस अंतर ने अलगाव और निष्पक्षता की भावना को और भी तेज कर दिया है। एक तरह के शरणार्थी को मान्यता क्यों मिलती है जबकि दूसरे को नहीं? निवास की अवधि को नागरिकता का आधार क्यों नहीं माना जा सकता?

विधि विद्वान बी.एस. चिमनी का कहना है कि भारत की शरणार्थी नीति सार्वभौमिक सिद्धांतों के बजाय चयनात्मक मान्यता पर आधारित है। सरकार विभिन्न समूहों के साथ अलग-अलग व्यवहार करती है। इस वजह से शरणार्थियों का एक पदानुक्रम बनता है, जहां कुछ विस्थापित समुदायों को दूसरों की तुलना में प्राथमिकता दी जाती है। श्रीलंकाई तमिल इस पदानुक्रम में निचले पायदान पर हैं। चयनात्मक समावेशन को औपचारिक रूप देकर, सीएए ने इस पदानुक्रम को और अधिक स्पष्ट कर दिया है।

श्रीलंका के तमिल शरणार्थियों का दशकों से अध्ययन कर रहे विद्वान वी. सूर्यनारायण सरकार के दृष्टिकोण में बदलाव देख रहे हैं। वह कहते हैं कि 'जो मानवीय सहायता के रूप में शुरू हुआ था, वह अब एक प्रबंधन प्रणाली बन गया है। ये शिविर दीर्घकालिक प्रशासनिक केन्द्र बन गए हैं।' उनका कहना है कि दशकों तक पुनर्वास के बाद भी सरकार राहत से समायोजन की ओर आगे नहीं बढ़ पाई है। कई शरणार्थी आर्थिक रूप से सक्रिय और सामाजिक रूप से एकीकृत हैं, फिर भी राजनीतिक समुदाय से बाहर हैं। उनका तर्क है कि नागरिकता प्रदान करने से यह विरोधाभास दूर हो जाएगा।

यह मुद्दा एक बार फिर राजनीतिक मैदान में है। मुख्यमंत्री एम.के. स्टालिन ने हाल ही में प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर केन्द्र सरकार से तमिलनाडु में दशकों से रह रहे श्रीलंकाई तमिल शरणार्थियों को नागरिकता देने का आग्रह किया है। डीएमके के राष्ट्रीय प्रवक्ता सलीम धरणीधरन कहते हैं कि 'चालीस साल कोई अस्थायी प्रवास नहीं, बल्कि जीवन भर का प्रवास है।' वह कहते हैं कि 'ये परिवार युद्ध से भागकर यहां आए और उन्होंने अपना जीवन बसाया। उनके बच्चे और पोते-पोतियां यहीं पले-बढ़े हैं। फिर भी वे राजनीतिक अधिकारों के बिना शरणार्थी बनकर रह रहे हैं। हर नीतिगत निर्णय उन्हें प्रभावित करता है, लेकिन उन्हें मतदान का अधिकार नहीं है। लोकतंत्र को लोगों को स्थायी अनिश्चितता में नहीं छोड़ना चाहिए।'

शरणार्थियों की पहली पीढ़ी को आज भी युद्ध के कारण पीछे छूटे गांव और अस्त-व्यस्त जीवन की याद है। लेकिन युवा पीढ़ी के लिए श्रीलंका एक दूर देश है। तमिलनाडु में पले-बढ़े और वहीं के संस्थानों में पढ़े-लिखे होने के कारण वे अपना भविष्य यहीं देखते हैं। गृह युद्ध 2009 में समाप्त हो गया, लेकिन कई लोगों के लिए वापसी न तो व्यावहारिक है और न ही उचित। उनका जीवन भारत से जुड़ा हुआ है, लेकिन उनकी कानूनी पहचान भारत से नहीं है। ■

फोटो: पीटीआई इमेजेज

लखनऊ में सामाजिक परिवर्तन दिवस पर आयोजित कार्यक्रम में कांग्रेस नेता राहुल गांधी

दलित और सामाजिक न्याय की चर्चा

2024 चुनावों की स्थितियों ने यूपी में राह साफ कर दी है

नंदलाल शर्मा

बसपा, बामसेफ और डीएस-4 के संस्थापक कांशीराम की 92वीं जयंती के अवसर पर 13 मार्च को लखनऊ में कांग्रेस के 'सामाजिक परिवर्तन दिवस' आयोजन के संदेश बहुत साफ हैं।

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ के सभी प्रमुख इलाकों और सभा मंच पर कांशीराम, शाहूजी महाराज, ज्योतिबा फुले और भीमराव आम्बेडकर के साथ गांधी, नेहरू और मौलाना आजाद की तस्वीरें लगी थीं। इंदिरा गांधी प्रतिष्ठान के जुपिटर हॉल में कार्यक्रम ढाई बजे शुरू होने वाला था, लेकिन दो बजे तक पूरा हॉल भर चुका था। मंच पर कांशीराम के साथ काम करने वाले और बसपा सरकार में ओहदे संभाल चुके केके गौतम, लालमणि प्रसाद के साथ अनीश अंसारी, ओम प्रकाश महतो और बीपी अशोक सहित अन्य लोगों को कुर्सियां मिलीं। ये वे लोग हैं, जो दलित, अति पिछड़ा और पसमांदा समुदाय से ताल्लुक रखते हैं। जब सभा में राहुल गांधी ने कहा कि नारेबाजी से कुछ नहीं होने वाला; उन्हें 100 ऐसे लोग चाहिए जो यूपी की राजनीति में जमीनी बदलाव के लिए खुद को समर्पित कर सकें, तो लगभग पूरा हॉल ही खड़ा हो गया और 'मैं, मैं...' की आवाज के साथ मुट्ठियां लहराने लगीं।

यह सब आकस्मिक भी नहीं है। 2024 लोकसभा चुनावों से स्थितियां बहुत बदल गई हैं। इन चुनावों में राम मंदिर के आरंभिक हिस्से के उद्घाटन वाले रथ पर सवार होकर भारतीय जनता पार्टी '400 पार' का नारा जोर-शोर से लगा रही थी, लेकिन जनता का विभिन्न वर्ग यूपी में कांग्रेस और समाजवादी पार्टी के साथ मजबूती से खड़ा हो गया और मुख्यतः इस वजह से भाजपा को 240 सीटों पर सिमट जाना पड़ा।

इन चुनावों में यूपी में कांग्रेस को छह सीटें हासिल हुईं जबकि 2019 चुनावों में उसे सिर्फ एक सीट हासिल हो पाई थी। इस बार जीतने वालों में राहुल गांधी के अतिरिक्त तनुज पूनिया (एससी), राकेश राठौर (ओबीसी), इमरान मसूद (मुस्लिम), उज्ज्वल रेवती रमण सिंह (भूमिहार) और के एल शर्मा (पंजाबी) थे। 'इंडिया ब्लॉक' में कांग्रेस के सहयोगी दल समाजवादी पार्टी को इन चुनावों में 37 सीटें मिलीं और जीतने वाले 86 प्रतिशत उम्मीदवारों में दलित, ओबीसी और मुस्लिम पृष्ठभूमि के थे। 2019 लोकसभा चुनावों में सपा को महज 5 सीटें मिली थीं। 2024 में किए गए सीएसडीएस (स्टडी ऑफ डेवलपिंग स्टडीज)-लोकनीति के पोस्ट पोल सर्वे से साफ है कि 'इंडिया' ब्लॉक के उम्मीदवारों को 92 प्रतिशत मुसलमानों, 82 प्रतिशत यादवों के साथ 56 प्रतिशत गैर जाटव दलितों और 25 प्रतिशत जाटव दलितों के वोट हासिल हुए। यह खास बात इसलिए है कि भाजपा को 2019 में 48 प्रतिशत गैर जाटव दलित वोट मिले थे जो 2024 में घटकर 29 प्रतिशत हो गए। एनडीए यह भर सोचकर प्रसन्न हुआ कि 2019 में उसे 17 प्रतिशत जाटव वोट ही मिले थे जबकि 2024 में उसका यह वोट शेयर 24 प्रतिशत हो गया। वोट के इस तरह बिखर जाने की वजह से ही पूर्व मुख्यमंत्री मायावती की बसपा 2024 लोकसभा चुनावों में शून्य पर आउट हो गई। वरिष्ठ पत्रकार कुमार भवेश चंद्र कहते हैं कि दलितों वोटों का झुकाव इंडिया गठबंधन की तरफ नहीं होता तो बसपा की यह हालत नहीं होती। सच यह भी है कि दलित वोटरों में दुविधा है और यह 2027 के चुनाव में बनी रहेगी।

मायावती का यह हाल इसलिए हुआ है कि वह नरेन्द्र मोदी-अमित शाह-योगी आदित्यनाथ वाली भाजपा के साथ लगातार पींगें बढ़ाती रही हैं। यह कोई छुपी बात नहीं है कि वह अब भी ऐसा कर रही हैं। इसीलिए लखनऊ में कांग्रेस की 'सामाजिक परिवर्तन दिवस' सभा में सभी वक्ताओं ने मायावती का नाम लिए बिना यह कहने से परहेज नहीं किया कि समाज के नेता 'कॉम्प्रोमाइज्ड' हो चुके हैं। राहुल गांधी ने भी कहा कि प्रधानमंत्री कॉम्प्रोमाइज्ड हैं, जबकि आम्बेडकर और कांशीराम ने कभी कॉम्प्रोमाइज नहीं किया। कांग्रेस के ओबीसी विभाग के प्रमुख अनिल जयहिंद ने सही ही कहा कि सिर्फ सत्ताधारी पार्टी के नहीं, बल्कि विपक्ष के कई नेता भी कॉम्प्रोमाइज्ड हैं जबकि राहुल गांधी कांशीराम की तरह खुलकर सामाजिक न्याय की बात कर रहे हैं। वैसे, राहुल ने बाद में कांशीराम को भारत रत्न देने की मांग करते हुए एक पत्र भी प्रधानमंत्री को भेजा है। यह तीर इतने निशाने पर लगा कि मायावती ने इस पर एक्स पर लिखा कि कांग्रेस अब बसपा के महापुरुषों को भुनाने में लगी है।

ऐसा नहीं है कि कांग्रेस और राहुल गांधी ने दलितों और सामाजिक न्याय की आवाज उठाने की आवाज अचानक शुरू कर दी है। खरगे कांग्रेस अध्यक्ष हैं जबकि पार्टी ने बिहार विधानसभा चुनाव राजेश राम के नेतृत्व में लड़ा। भारत जोड़ो यात्रा के दौरान और उसके बाद भी राहुल गांधी संविधान, जाति जनगणना और आरक्षण के मुद्दों पर मुखर हैं।

ऐसा नहीं है कि कांग्रेस और राहुल गांधी ने दलितों और सामाजिक न्याय की आवाज उठाने की आवाज अचानक शुरू कर दी है। भारत जोड़ो यात्रा के दौरान और उसके बाद भी राहुल गांधी संविधान, जाति जनगणना और आरक्षण के मुद्दों पर मुखर हैं। लोकसभा चुनावों में भी राहुल की यह बात कई इलाकों और वर्गों के दिलों में उतर गई कि 'संविधान खतरे में है'। यह महज नारा नहीं था। चुनावों और उसके बाद भी राहुल यह समझाने में कामयाब रहे हैं कि संविधान, यानी दलितों-पिछड़ों-आदिवासियों-अल्पसंख्यकों को सामाजिक शोषण-दमन से बचने का एकमात्र विकल्प खतरे में है। वह जब भी अपनी सभाओं में संविधान के लाल आवरण वाली कॉपी दिखाते हैं, तो जनता जानती है कि देश को बचाए रखने का एकमात्र रास्ता इससे होकर ही गुजरता है। इसी सोच से जुड़ा संवाद फिर संविधान सम्मेलनों के मार्फत हुआ। इन सबसे और भारत जोड़ो अभियान के दौरान या उसके बाद भी जिस तरह राहुल गांधी लोगों से मिल रहे हैं, उससे लोगों के बीच उनकी एक नई छवि उभरी है और पिछड़े, वंचित और दमित उन्हें अपना हमदर्द मानते हैं।

> राहुल गांधी जब भी लाल आवरण वाली संविधान की पुस्तक दिखाते हैं, तो संदेश साफ होता है। भारत जोड़ो अभियान के दौरान या उसके बाद भी जिस तरह वह लोगों से मिल रहे हैं, उससे उनकी एक नई छवि उभरी है और पिछड़े, वंचित और दमित उन्हें अपना हमदर्द मानने लगे हैं

कांग्रेस को नया आकार और विस्तार देने के प्रयासों को अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर और समाजशास्त्री खालिद अनीस अंसारी इस परिप्रेक्ष्य में देखते हैं कि 'कांशीराम की सामाजिक न्याय (85 बनाम 15) की जो पुरानी परिभाषा है, उसके मुकाबले राहुल गांधी के सामाजिक न्याय का विजन काफी व्यापक है। इसमें कामगार और मेहनतकश गरीब शामिल हैं। यह शुद्ध जातीय नहीं है, इसमें आर्थिक सवाल भी शामिल हैं। अभी तक राहुल गांधी एक ऐसे लीडर थे, जिसके पास अपनी कॉन्स्टिट्यूएंसी (समुदाय/वोट बैंक) नहीं थी, और कई सारी कॉन्स्टिट्यूएंसी ऐसी हैं जिसके पास लीडर/पार्टी नहीं है। ऐसे में पार्टी के पास विकल्प है कि वह उन समुदायों के पास जाए जो किसी पार्टी के वोट बैंक की तरह नहीं जाने जाते हैं, जैसे कि अति दलित, अति पिछड़ा और पसमांदा। सच यह है कि सामाजिक न्याय के मुद्दे पर बात करने वालों में सिर्फ राहुल गांधी ही नजर आते हैं, और जो लोग संघ और भाजपा की विचारधारा के साथ नहीं है, उन्हें राहुल गांधी के अलावा कोई नजर नहीं आता है।' ■

संप्रभुता समर्पण की कितनी कीमत चुकाएंगे हम?

व्यापार समझौते के पहले से ही मिलने लगे थे अमेरिका के समक्ष भारत के समर्पण के संकेत

कृष्ण प्रताप सिंह

लोकसभा में विपक्ष के नेता राहुल गांधी यों ही नहीं कहते कि नरेन्द्र मोदी सरकार ने भारतमाता को बेच दिया है और देश की संप्रभुता का पूर्ण समर्पण करके उसकी रणनीतिक स्वायत्तता और निर्णय लेने की शक्ति अमेरिका के हाथों में सौंप दी है, जिसका अमेरिका इस्तेमाल भी कर रहा है।

इस समर्पण के संकेत इस सरकार द्वारा अमेरिका से किए गए एकतरफा व्यापार समझौते से बहुत पहले, पिछले साल ही, मिलने लगे थे और कुछ लोगों को छोड़कर (जिन्हें सब कुछ देखकर भी कुछ भी देखना और स्वीकारना गवारा नहीं था) सबको साफ-साफ दिख रहे थे।

निस्संदेह, यह समर्पण एक दो दिनों या महीनों में पूरा नहीं हुआ। देशवासियों को इसका पहला बड़ा अनुभव पिछले साल फरवरी में हुआ, जब अमेरिका ने तीन बार में वहां रह रहे साढ़े तीन सौ से ज्यादा भारतीय प्रवासियों को नृशंसतापूर्वक अपनी सेना के विमानों में मवेशियों की तरह लादकर हमारी धरती पर वापस ला पटका। मोदी सरकार इसे लेकर औपचारिक विरोध भी दर्ज नहीं करा पाई थी।

फिर 6-7 मई की रात शुरू हुए आपरेशन सिंदूर के दौरान इसका एक और तल्ख अनुभव हुआ, जब पाकिस्तान से अचानक हुए युद्धविराम की भारत से पहले अमेरिका के राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप ने घोषणा की और बार-बार उसका श्रेय लेते रहे।

अब व्यापार समझौते के बाद तो वह यह तक तय करने लगा है कि भारत किस देश से तेल और गैस खरीदेगा। ईरान से युद्ध के बीच उसने कुछ इस अंदाज में भारत पर दया-सी दिखाते हुए रूस से तेल खरीदने की 30 दिनों की 'अनुमति' दी है, जैसे भारत उसकी मर्जी का मोहताज हो।

जहां तक व्यापार समझौते की बात है, उसकी शर्तों के तहत न सिर्फ भारत की ऊर्जा एवं डेटा की सुरक्षा से समझौता हुआ है, बल्कि अमेरिकी कृषि उत्पादों के भारतीय बाजार में आने से उसके छोटे किसानों और कपड़ा उद्योग पर बुरा असर पड़ना अवश्यंभावी हो गया है।

सबसे बड़ी समस्या यह है कि अवैध भारतीय प्रवासियों को हथकड़ियों-बेड़ियों और जंजीरों में जकड़कर भारत वापस भेजने के वक्त से ही मोदी सरकार को याद नहीं रह गया है कि उसके पास रीढ़ की कोई हड्डी भी है। न उसे निर्गुट आंदोलन के संस्थापक रहे भारत के आत्मसम्मान की फिक्र रह गई है, न इसकी कि मोदी की रीढ़हीनता भारत को 'विश्व गुरु' बनाने की बार-बार हांकी जाने वाली उनकी डींग का खोखलापन उजागर करने में भी कोई कसर नहीं छोड़ रही।

गौरतलब है कि ट्रंप के पिछले कार्यकाल से ही उनसे गहरी मित्रता का दावा करते आ रहे मोदी को भारतीयों से इतने बुरे अमेरिकी सलूक के बावजूद इस मित्रता पर कोई आंच आने देना गवारा नहीं हुआ था, न ही उस पर तनिक भी लज्जा आई थी।

उन्होंने ट्रंप के अमेरिकी 'अंधराष्ट्रवाद' (जिसे ट्रंप ने पिछली दफा ही 'अमेरिका फर्स्ट' तक पहुंचा दिया था) के जोर-जोर से बज रहे ढोल के इस बड़े पोल को समझने से भी साफ इनकार कर दिया था कि चूंकि बीती शताब्दी के आखिरी दशक में भूमंडलीकरण और उदारीकरण की नीतियों को एकतरफा रूप देकर अपने प्रभुत्व के विस्तार के लिए इस्तेमाल करने की बदनीयत अमेरिकी कोशिशें अब उसके बहुत काम आती नहीं दिख रहीं, इसलिए उसे फिर से संरक्षणवाद की जरूरत महसूस होने लगी है।

मोदी अभी भी यह नहीं ही समझते कि ट्रंप का 'अमेरिका फर्स्ट' का नारा उनके देश की इसी जरूरत को पूरा करने का उपक्रम था, जिसे अपने नए कार्यकाल में वह नए सिरे से अमली जामा पहना रहे हैं। ये नीतियां इस अर्थ में एकतरफा थीं और हैं कि इनके तहत जानबूझकर सिर्फ अमीर देशों की पूंजी के भूमंडलीकरण यानी मुक्त प्रवाह का मार्ग प्रशस्त किया गया और गरीब या विकासशील देशों की श्रम शक्ति के रास्ते में नए रोडे डालकर उसकी पुरानी बदहाली को और बढ़ा दिया गया।

इसका नतीजा यह है कि बड़ी पूंजी इतनी उन्मुक्त और निरंकुश हो गई है कि देशों की सीमाएं भी उसकी उड़ान में बाधक नहीं रह गई हैं और वह उनके हर तरह के अतिक्रमण के लिए आजाद है। इतना ही नहीं, उन देशों में मनचाही सरकारें बनवाने या उनकी राजसत्ता का अतिक्रमण करने की हिमाकतें भी उसके बायें हाथ का खेल हो गई हैं। इन अतिक्रमणों से सर्वनाशी युद्ध छिड़ जाए, विश्वयुद्ध का अंदेशा गहरा जाए या किसी देश का सामाजिक ताना-बाना बिखरने या टूटने लगे तो उसकी और उसकी संरक्षक सत्ताओं की बला से।

दूसरी ओर अमीर देशों ने अपने देश के सामाजिक ताने-बाने की रक्षा के नाम पर अपनी सीमाओं में श्रम शक्ति के मुक्त प्रवाह पर वांछित-अवांछित ढेरों पाबंदियां आयत कर रखी हैं। इसे यों समझ सकते हैं कि उन्होंने पूंजी निवेशकों की दिग्विजय करा दी है और श्रमिकों के समक्ष उसकी अधीनता स्वीकार करने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहने दिया है। स्थिति यह है कि निवेशकों के लिए हर देश में हर समय और हर हाल में गलीचे बिछे हुए हैं और उनकी सारी शर्तें स्वीकार कर उनकी अगवानी की जा रही हैं। लेकिन जिनके पास बेचने के लिए सिर्फ उनका श्रम है, वे शरणार्थियों से भी बुरा बर्ताव झेलने को अभिशप्त है।

अब तो यह पूरी तरह साफ हो चुका है कि भारत ने अमेरिका के समक्ष घुटने टेक दिए हैं

अपना सब कुछ दांव पर लगाकर दूसरे देशों में जाना चाहें तो उन्हें वहां तो नाना प्रकार के अत्याचारों और शोषणों का सामना करना ही पड़ता है, उनके अपने देश में भी लंबे संघर्षों से अर्जित उनके अधिकारों में निवेशकों के लिए सुविधाजनक कटौतियों में कुछ अनुचित नहीं समझा जाता।

ऐसे कठिन समय में मोदी सरकार का दायित्व था कि वह यह स्थिति बदलने के लिए अंतरराष्ट्रीय मंचों पर आवाज उठाती और दुनिया भर में अपने श्रमिकों की बेहतरी सुनिश्चित करती। लेकिन उसने अपने देश में भी सारे श्रम कानूनों को मिलाकर ऐसी श्रम संहिता बना दी, जो पूरी तरह बड़ी या बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों के लिए अनुकूलित और श्रमिकों द्वारा कठिन संघर्ष करके हासिल की गई सुरक्षाएं घटाने या न्यूनतम करने वाली है।

इसके चलते 1991 में भूमंडलीकरण और उदारीकरण की नीतियों की अगवानी के वक्त उनके जिस मानवीय चेहरे की बात की जाती थी, अब उसका कहीं कोई अता-पता ही नहीं है! सोचिए जरा, जो निवेश लालायित सरकार निवेशकों की शर्तें मानकर अपने देश में श्रमिकों के अधिकारों में कटौती कर डाले, वह कल्पना भी कैसे कर सकती है कि बेरोजगारी के मारे उसके देश के श्रमिक थोड़ी बेहतरी की तलाश में 'अवैध रूप से' अमेरिका में जा घुसेंगे तो वह उनसे किसी सभ्य लोकतांत्रिक देश की तरह पेश आएगा? वह तो तभी इस तरह पेश आ सकता था, जब भारत की सरकार अपनी रीढ़ की हड्डी गिरवी रखने के बजाय अपने रवैये से यह संकेत देती कि वह उसकी बदनीयत नीतियों के प्रतिरोध का हौसला रखती है और किसी भी कीमत पर उनको स्वीकार नहीं करने वाली।

लेकिन यहां तो नरेन्द्र मोदी सरकार ऐसा जता रही है जैसे वह समझ ही नहीं पा रही कि करे तो क्या करे। तभी तो प्रवासियों की वापसी से पहले अमेरिका गए भारतीय विदेश मंत्री एस. जयशंकर से अमेरिकी विदेशमंत्री ने कहा कि वह 'अवैध भारतीय प्रवासियों को ले जाएं' तो वह सुनकर चुपचाप चले आए और उनसे यह भी कहते नहीं बना कि हां, हम उनकी सम्मानपूर्वक वापसी सुनिश्चित करेंगे। यह तब की बात है जब वह प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के लिए ट्रंप के शपथग्रहण समारोह के निमंत्रण का जुगाड़ करने अमेरिका गए थे।

कौन जाने वह यह सोचकर पस्तहिम्मत हो गए हों कि उन्होंने मुंह खोला तो महाशक्ति अमेरिका आगे और कठिन मोर्चे खोल देगा। आखिरकार हमारी सीमा में घुसे चीन की बाबत वह पहले ही यह कहकर असहायता जाहिर कर चुके थे कि वह भारत से बड़ी अर्थव्यवस्था है। क्या पता कि ऐसा कहते हुए उनको तनिक भी शर्म आई थी या नहीं।

अकारण नहीं कि अमेरिका से एकतरफा व्यापार समझौते को लेकर राहुल गांधी प्रधानमंत्री से पूछ रहे हैं कि 'क्या आपको भारतमाता को बेचने में शर्म नहीं आती?' फिर कोई उत्तर न पाकर वह ठीक ही कहते हैं कि प्रधानमंत्री सामान्य परिस्थितियों में भारत को नहीं बेचेंगे। वह इसलिए बेच रहे हैं कि अमेरिकी उनका गला घोंट रहे हैं और उनकी गर्दन पर जकड़ बना रखी है। हम प्रधानमंत्री की आंखों में इसका डर देख सकते हैं।

राहुल के अनुसार इसके पीछे दो बातें हैं - पहली एपस्टीन, जिसकी तैंतीस लाख फाइलें अभी भी बंद हैं। दूसरी यह कि मोदी पर भारतीय उद्योगपति गौतम अडानी के हितों की रक्षा करने और भाजपा की 'वित्तीय संरचना' को बचाने की जिम्मेदारी है।

ऐसे में सबसे बड़ा सवाल है कि देश के रूप में हम इस संप्रभुता समर्पण की कीमत कब तक चुकाएंगे? और चुकाते जाएंगे तो अनेक बलिदानों से हासिल हमारी आजादी का क्या होगा? ■

> अकारण नहीं कि अमेरिका से एकतरफा व्यापार समझौते को लेकर राहुल गांधी प्रधानमंत्री से पूछ रहे हैं कि 'क्या आपको भारतमाता को बेचने में शर्म नहीं आती?' वह ठीक ही कहते हैं कि हम मोदी की आंखों में डर देख सकते हैं

जिस भी नदी को सुंदर किया, वह तड़प रही

साबरमती, गंगा के बाद अब मूसी नदी रिवर फ्रंट के जरिये सौंदर्यीकरण की भेंट चढ़ जाने वाली है

मीनाक्षी नटराजन

विकास के कुछ वाहय मानदंड समाज के कुलीन वर्ग और राज्य ने तय कर लिए हैं। विकास आधारभूत निर्माण तक आकर सिमट गया है। इस नए विकास में वह नितांत कृत्रिम सौंदर्यीकरण के इर्द-गिर्द घूमता है। इस नवसौंदर्य बोध में नैसर्गिक विविध वनसंपदा को नष्ट कर एक से पेड़ लगाए जाते हैं। कभी तो कृत्रिम ताड़ हर चौक पर मुंह चिढ़ाते हैं, सोंधी महक देती मिट्टी की जगह तापमान बढाते सीमेंटेड रोड या पेवर ब्लॉक लगते हैं। दावा है कि जल-अवशोषित करने वाले पेवर ब्लॉक गर्मी के दिनों में पानी सोखते हैं और वाष्पीकरण के माध्यम से सतह का तापमान लगभग 2-10 डिग्री तक कम कर सकते हैं। इसी तरह, जरूरत हो न हो, मेट्रो लाइन बिछाई जाती है। यह कुलीन वर्ग को बहुत भाता है।

अब यह सौंदर्यीकरण नदी के मुहाने तक भी पहुंच गया है। एक के बाद एक नदी इस सौंदर्यीकरण की भेंट चढ़ रही है। बाजार के युग में हर उत्पाद की मार्केटिंग, सौंदर्य के पैमाने तय करती है। सो नस्लीय भेद को धता बताते त्वचा को श्वेत करने का अवैज्ञानिक दावा करते उत्पाद सौंदर्य को परिभाषित करते हैं। यह स्त्री के सौंदर्य बोध तक सीमित नहीं। यह कृतिमता नदी, सरोवर, जल स्रोत, पहाड़ सब पर लागू होती जा रही है। आखिर स्त्री, नदी में फर्क भी कितना है!

जैसे इस कृतिम स्त्री सौंदर्य से उसका वस्तुकरण होता हैं, वैसे ही नदी मुहाने का वस्तुकरण बड़ा व्यावसायिक मुनाफा देता है। भू-माफिया कमाते हैं, उच्च कुलीन के प्राधान्य को तुष्ट किया जाता है। शान की बात होती है। मगर इसमें नदी की अस्मिता, उसका जीवन कोई मायने नहीं रखता।

हाल ही में हैदराबाद की मूसी नदी के मुहाने को सौंदर्यीकृत करने की ठानी गई है। जैसे इसके पहले कुछ और राज्यो ने किया। गुजरात सरकार ने साबरमती को सुंदर बनाने की पहल की और रिवर फ्रंट बना। पटना में गंगा को सुंदर किया गया। आज दोनों तड़प रही हैं।

यह हम भूल बैठे हैं कि नदी, पहाड़, झील-झरने वन-वनस्पति हमसे बहुत पुराने हैं। इस धरती के मूल वासी। इन्हीं की बदौलत हम हैं। हम और प्रकृति अलग-अलग खानों में बंट नहीं सकते क्योंकि हम उसी वृहद निसर्ग का एक लघु हिस्सा हैं, उसके मालिक नहीं। हम कौन होते हैं उनको सहेजने वाले। हमारी इतनी औकात नहीं है। सदियों से उन्होंने हमें सहेजा है। अपने हाल पर छोड़ दें तो वे अपने को संवार लेंगी। मगर हम खुद की गरज से उनको सहेजना चाहते हैं ताकि अंधी दौड़ के चलते जो दोहन किया है, उसकी परिणति आगामी पीढ़ी को न भुगतनी पड़े। वे कहीं नदी से हाथ ही न धो बैठें।

यह आशंका प्रबल हो गई है कि मूसी नदी का भी हाल गंगा और साबरमती जैसा हो जाएगा

नदियों के सौंदर्य पर जितना कहें, कम ही होगा। वे बहती हैं, असंख्य लोककथाओं को हर लहर में सिमटा कर बढ़ती हैं। आसपास आम समाज को छांव देती हैं, धरती से जुड़ा काम भी देती हैं, पालती हैं, प्यास बुझती हैं। हमारी हर जरूरत को पूरा कर सकती हैं, पर लालच को नहीं। वे इतनी सौंदर्यमयी हैं कि उसको हमारे ब्यूटी ट्रीटमेंट की आवश्यकता नहीं।

रिवर फ्रंट ने साबरमती के बहते जल को जमा कर दिया। वह ठिठक गई है, सहम गई है। पूरा औद्योगिक घरेलू अपशिष्ट उसपर बिना ठीक से गंदगी मुक्त हुए थोप दिया जाता है। अब उसकी सड़ांध स्वयं वह नहीं झेल पाती। वह नदी जिसके किनारे सत्य के प्रयोगधर्मी ने अपना अभ्यास शुरू किया, आज आंसू बहाती है। केवल विशिष्ट प्रदर्शन के मौकों पर साफ पानी उंड़ेला जाता है। फ्रंट के कारण इतनी दूर तक व्यावसायिक निर्माण हुआ है कि नदी को बहने की जगह नहीं बची। वह तन्वंगी हुई जा रही है। उसका सौंदर्यीकरण नही, असल में यह उसका चीर हरण है। उसकी गरिमा के साथ छेड़छाड़।

यही हाल मां गंगा का है। पटना के फ्रंट ने नदी को और उत्तर की तरफ धकेला है। वहां दूर तक नदी नहीं, रेत बहती है। नदी की गरिमा चूकती जा रही है।

नदी और हमारे बीच कोई लक्ष्मण रेखा तो नहीं खींच सकते। हमारे और उनके बीच प्रणय, विनय, गरिमा और करुणा के परस्पर आदान-प्रदान का संबंध है।

मूसी ऐसी ही सौंदर्य की नदी है। विकाराबाद की पहाड़ियों से निकलती है। कामगारी समूह को पालती है। उसको पुनर्जीवित होने का हक है। बशर्ते पुनर्जीवन व्यावसायिक लाभ का पर्याय न होने पाए। यह सुनिश्चित करना राज्य की जिम्मेदारी है।

निसर्ग के प्रति दो विचार व्यवस्था है। एक वस्तुकरण की ओर ले जाती है। पर्यावरणीय क्षति पहुंचाती है, गरीब का विस्थापन कराती है, जन मत को नियंत्रित करने के लिए पुलिस बल अख्तियार करती है।

मगर 2004 से 2014 की सरकार ने सौहार्द का सुंदर मार्ग प्रस्तुत किया। जहां पर्यावरणीय प्रभाव आकलन, सामाजिक प्रभाव आकलन को हर विकास की नींव का पत्थर बनाया। उन विचारों का अक्स हैदराबाद की मूसी में दिखाई दे सकता है। नदी को जीवंत मानकर, उसकी गरिमा को बरकरार रख कर नया मार्ग बन सकता है। दुनिया और भारत के सामने एक वैकल्पिक विकास की इबारत लिखी जा सकती है। ऐसा विकास जिसके केन्द्र में प्रकृति और इंसान दो खाको में न बंटे हो। जहां दोनों का सौहार्दपूर्ण सहअस्तित्व हो। जहां कम-से-कम विस्थापन हो। एक ऐसे सौंदर्यबोध का विकल्प जो हमारी मिट्टी में रचा बसा हो। हमारी नदी तहजीब से लैस हो। आखिर हमारी तहजीब भी तो गंगा जमनी है। तपस्या और कर्म, भक्ति ज्ञान सूफी का बेजोड़ संगम। नदी के पुनर्जीवन में उसका दर्शन क्यों नहीं हो सकता जहां नदी की श्वसन प्रणाली को मुक्त किया जाए? पर वह कोई सौदेबाजी, मुनाफाखोरी का माध्यम न बन जाए।

इस राज्य से अब भी उम्मीद है क्योंकि यहां लोकचैतन्य अब भी जिंदा है, जो कुछ वर्ष पूर्व तक संघर्ष करता रहा है। राज्य ने सामाजिक न्याय हेतु वैज्ञानिक तरीके से जाति जनगणना की है। सो विकास को पुनर्परिभाषित कर दिखाने का भी माद्दा रखती है। तंत्र के नियंत्रणवादी लिबास से इतर भी कोई तरीका हो सकता है। जहां राज्य लोक चेतना को कुचले बिना जन को यह मौका प्रदान करे कि वह राज्य गत अधिकार के दुरुपयोग का प्रतिरोध कर सके। वह नदी के मुहाने का वस्तुकरण न करके उसकी गरिमा लौटा सके। यह संभन है, राजनीतिक है और बेहद व्यावहारिक है। आखिर प्रकृति के नाश से ज्यादा अव्यवहारिक और क्या होगा!

सत्तासीन विचार करें। ■

> हम और प्रकृति अलग-अलग खानों में बंट नहीं सकते क्योंकि हम उसी वृहद निसर्ग का एक लघु हिस्सा हैं, उसके मालिक नहीं। रिवर फ्रंट बहते जल को जमा कर देती है। नदी ठिठक जाती है, सहम जाती है

संडे नवजीवन
रविवार, 22 मार्च, 2026 I www.navjivanindia.com
Published Date 22 March, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

इलाज के बाद देखभाल की अहमियत

अस्पताल से डिस्चार्ज करने के बाद रामभरोसे नहीं छोड़ सकते इसलिए घर-घर जाकर मदद का प्रयास

के.ए. शाजी

चिकित्सकों और स्वास्थ्यकर्मियों द्वारा मरीजों की घर पर देखभाल का केरला का यह मॉडल अन्य राज्यों में भी लागू किया जा रहा है

कर्नाटक सरकार द्वारा अपने बजट में की गई यह घोषणा कि वह पैलियम इंडिया के सहयोग से केरल शैली की 'घर-घर उपशामक (पैलिएटिव) देखभाल' योजना अपनाएगी, का महत्व महज स्वास्थ्य नीति का मामला नहीं, उससे कहीं आगे था। यह बड़ी खामोशी से शुरू किए गए एक ऐसे प्रयोग की ओर इशारा करता है, जो तीन दशक पहले कोझिकोड में शुरू हुआ था और जिसने धीरे-धीरे भारत की स्वास्थ्य प्रणाली के अंदर पीड़ा समझने का तरीका ही बदलकर रख दिया।

आज पूरे केरल में, नर्सों, डॉक्टरों और स्वयंसेवकों की छोटी-छोटी टीमें रोज संकरी ग्रामीण सड़कों और भीड़भाड़ वाली शहरी गलियों के ऐसे पतों पर ठहरती हैं, जिनका नाम अस्पतालों के रजिस्टरों में शायद ही दर्ज होता है। यहां ज्यादातर इलाज को लेकर निराश हो चुके लोग होते हैं। कुछ कैंसर के अंतिम चरण वाले। कुछ लकवा, मनोभ्रंश (डिमेंशिया) या गंभीर तंत्रिका संबंधी बीमारी से पीड़ित। उनके लिए ऐसी टीमों का आना वह सब लेकर आता है, जिसे आधुनिक चिकित्सा अक्सर इलाज समाप्त होने के बाद अनदेखा कर देती है, यानी दर्द से राहत, परिवारों के लिए सलाह, और यह आश्वासन कि उन्हें सिर्फ इसलिए अकेला नहीं छोड़ा जाएगा क्योंकि उनकी बीमारी लाइलाज है। यह विचार कि 'देखभाल मरीज तक पहुंचनी चाहिए न कि मरीज को देखभाल के लिए पीछे भागना चाहिए', अब केरल के 'उपशामक देखभाल मॉडल' के रूप में जाना जाता है। हालांकि, शुरुआत इसकी भी बेहद साधारण थी।

1990 के दशक की शुरुआत में, कोझिकोड मेडिकल कॉलेज के डॉक्टरों की नजर में कुछ ऐसे हालात आए, जो चिंताजनक थे। गंभीर रूप से बीमार मरीजों को अस्पतालों से छुट्टी दे दी जाती थी और सहयोग के नाम पर उनके पास कुछ नहीं होता था। परिवारों को घर पर ही गंभीर दर्द और जटिल स्थितियों/लक्षणों से जूझना पड़ता था। कितने ही मरीज अपने अंतिम दिन चुपचाप पीड़ा सहते हुए बिताने को मजबूर होते। एनेस्थेसिया एक्सपर्ट एम.आर. राजगोपाल के लिए, इस स्थिति ने चिकित्सा के उद्देश्य को लेकर एक मूलभूत सवाल खड़ा कर दियाः "जब इलाज संभव न हो, देखभाल ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है। और देखभाल मरीज तक पहुंचनी चाहिए, न कि मरीज को उसके पीछे भागने को मजबूर किया जाना चाहिए।"

सर्जन सुरेश कुमार और कुछ सहयोगियों के साथ मिलकर डॉ. राजगोपाल ने 1993 में कोझिकोड मेडिकल कॉलेज में पेन एंड पैलिएटिव केयर सोसाइटी की स्थापना की। यह प्रयास छोटा और अनौपचारिक था। डॉक्टरों ने क्लीनिक चलाने के लिए थोड़ी-थोड़ी धनराशि दान की। रोगी पंजीकरण और बुनियादी सहायता देने के लिए स्वयंसेवक आगे आए। इस पहल की खासियत इसका दर्शन थाः 'असाध्य रोग के पीड़ितों को स्वास्थ्य सेवा प्रणाली द्वारा उपेक्षित नहीं छोड़ देना चाहिए।'

शुरुआती वर्षों में एक और चुनौती पेश आईः कई मरीज इतने कमजोर थे कि अस्पताल तक पहुंच ही नहीं सकते थे। कुछ दूरदराज रहते थे, तो अनेक ऐसे जो बार-बार चिकित्सा जांच का खर्च नहीं उठा सकते थे। इसलिए, डॉक्टरों-नर्सों ने मरीजों के घर जाकर इलाज शुरू किया। यह घर-घर जाना कार्यक्रम में क्रांतिकारी बदलाव लाने वाला साबित हुआ।

डॉ. कुमार कहते हैं, "हमने लोगों के घर जाना शुरू किया, तब अहसास हुआ कि उनकी तकलीफ शारीरिक दर्द से कहीं बड़ी थी। परिवार भावनात्मक तनाव में थे। कई लोग आर्थिक तंगी से जूझ रहे थे। बीमारी ने पूरे परिवार पर असर डाला था।" स्पष्ट हो गया कि उपशामक देखभाल को नैदानिक उपचार से आगे ले जाना होगा। भावनात्मक सहारा, व्यावहारिक सहायता और सामुदायिक भागीदारी समान रूप से महत्वपूर्ण थे। यही अहसास इस आंदोलन के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण नवाचार को जन्म देने का कारण बना।

1999 में, यह कार्यक्रम विस्तारित होकर पैलिएटिव केयर में नेबरहुड नेटवर्क के रूप में जाना जाने लगा। डॉक्टरों और नर्सों पर पूरी तरह निर्भर रहने के बजाय, इसने समुदायों को अपने-अपने इलाकों में मरीजों की देखभाल में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। स्वयंसेवकों को उन मरीजों की पहचान को प्रशिक्षित किया गया जिन्हें सहायता चाहिए थी। चिकित्सा दल ने घर-घर जाकर मरीजों का इलाज किया। सामुदायिक समूहों ने परिवारों को दवाइयां और अन्य आवश्यक वस्तुएं देने के लिए धन जुटाया।

उपशामक देखभाल अस्पतालों के वार्डों से निकलकर आस-पड़ोस तक पहुंचने लगी। शिक्षक, छात्र, दुकानदार और रिटायर्ड लोग स्वयंसेवक के रूप में जुड़ने लगे। कितनों ने अपने परिवारों में बीमारी देखी थी और उन्हें अहसास था कि यह कितना एकाकी हो सकता है। यह नेटवर्क पूरे केरला में बड़ी तेजी से फैला। आज, हजारों प्रशिक्षित स्वयंसेवकों की सहायता से सैकड़ों उपशामक देखभाल इकाइयां संचालित हो रही हैं। यह सेवाएं सिर्फ कैंसर रोगियों तक सीमित नहीं हैं। स्ट्रोक से उबर रहे, मनोभ्रंश से पीड़ित या गंभीर तंत्रिका संबंधी विकारों से ग्रस्त लोग भी इसमें शामिल हैं।

इस मॉडल की ताकत इसकी सामाजिक नींव में निहित है। यह इसलिए कारगर है क्योंकि समुदाय एक-दूसरे के प्रति जिम्मेदारी महसूस करते हैं। यह महज एक चिकित्सा कार्यक्रम नहीं, बल्कि पीड़ा के प्रति एक सामुदायिक प्रतिक्रिया भी है

भारत की कुल जनसंख्या में केरला की हिस्सेदारी कम होने के बावजूद, यह देश की संगठित उपशामक देखभाल सेवाओं का एक बड़ा हिस्सा प्रदान करता है। डॉ. राजगोपाल के अनुसार, इस मॉडल की असल ताकत इसकी सामाजिक बुनियाद में निहित है। वह कहते हैं, "यह इसलिए भी कारगर है क्योंकि समुदायों में एक-दूसरे के प्रति जिम्मेदारी की भावना है। यह महज एक चिकित्सा कार्यक्रम नहीं है। यह तकलीफ के प्रति समुदाय की प्रतिक्रिया है।"

लगभग एक दशक तक, यह आंदोलन मुख्य रूप से स्वयंसेवी प्रयासों और स्थानीय सहयोग के जरिये विस्तार लेता रहा। अंततः राज्य सरकार ने इसका महत्व पहचाना। 2008 में, केरल ने उपशामक देखभाल के लिए समर्पित देश की पहली राज्य नीति लागू की। नीति ने इन सेवाओं को सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली में एकीकृत किया और स्थानीय स्व-सरकारी संस्थानों को सामुदायिक पहल के समर्थन को प्रोत्साहित किया। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों ने उपशामक देखभाल कार्यक्रम शुरू किए। पंचायतों ने घर-घर जाकर सेवाएं देने को रसद और आर्थिक मदद दी।

आंदोलन को संस्थागत समर्थन भी मिला, लेकिन सामुदायिक स्वरूप कायम रहा। प्रशिक्षण में भी तेजी आई। कोझिकोड स्थित पैलिएटिव मेडिसिन संस्थान, जो मूल क्लीनिक से विकसित हुआ है, केरला के अनुभव से सीखने के इच्छुक भारत और अन्य देशों के स्वास्थ्य पेशेवरों को आकर्षित कर रहा है। इन विचारों के प्रसार में डॉ. राजगोपाल द्वारा 2003 में तिरुवनंतपुरम में स्थापित गैर-लाभकारी संगठन पैलियम इंडिया की भूमिका रही है।

पैलियम इंडिया देशभर में उपशामक देखभाल और दर्द निवारण तक पहुंच में सुधार लाने के लिए काम करता है। यह डॉक्टरों और नर्सों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करता है, क्लीनिक चलाता है और आवश्यक दवाओं की उपलब्धता बढ़ाने वाले नीतिगत सुधारों की वकालत करता है। अस्पतालों और सरकारों के साथ साझेदारी के जरिये, संगठन ने कई राज्यों में उपशामक देखभाल संबंधी पहल शुरू करने में मदद की है।

जयपुर के भगवान महावीर कैंसर अस्पताल, अहमदाबाद के गुजरात कैंसर एंड रिसर्च इंस्टीट्यूट और हैदराबाद के एमएनजे इंस्टीट्यूट ऑफ ऑन्कोलॉजी जैसे संस्थानों के साथ प्रशिक्षण सहयोग स्थापित किए गए हैं। केरला मॉडल से प्रेरित कार्यक्रम असम, राजस्थान, दिल्ली, ओडिशा, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु जैसे अन्य राज्यों में भी शुरू हैं। दूरस्थ इलाकों में भी इसे अपनाया जा रहा है। हिमाचल प्रदेश के चंबा जिले में, सामुदायिक पहल के तहत अस्पतालों से दूर स्थित पहाड़ी गांवों के मरीजों के लिए घर-आधारित देखभाल का प्रयोग चल रहा है।

मॉडल की चर्चा भारत के बाहर भी है। बांग्लादेश और अन्य दक्षिण एशियाई देशों के स्वास्थ्य पेशेवर अपनी उपशामक देखभाल प्रणालियां डिजाइन करते समय केरल के अनुभव का अध्ययन कर रहे हैं।

ऐसे में देखा जाए तो केरला मॉडल के कुछ तत्व अपनाने की कर्नाटक की पहल अत्यंत महत्वपूर्ण है। राज्य की योजना प्रशिक्षित स्वास्थ्यकर्मियों और सामुदायिक नेटवर्क के सहयोग से गंभीर, दीर्घकालिक और असाध्य बीमारियों से पीड़ित रोगियों को घर पर ही देखभाल उपलब्ध कराने की है। भारत की स्वास्थ्य प्रणाली दीर्घकालिक बीमारियों के बढ़ते बोझ का सामना कर रही है। कैंसर, स्ट्रोक और तंत्रिका संबंधी विकारों के बढ़ते मामलों का मतलब ही है कि लाखों परिवारों को दीर्घकालिक विकलांगता से ग्रस्त रिश्तेदारों की देखभाल करनी पड़ती है।

साथ ही, देश की बढ़ती बुजुर्ग आबादी के कारण बुजुर्ग मरीजों के लिए देखभाल की मांग भी बढ़ रही है, फिर भी अधिकांश राज्यों में ऐसी सेवाएं सीमित हैं। केरला का अनुभव बताता है कि सहानुभूति और करुणा वाली देखभाल महंगे अस्पतालों से नहीं संभव है। यह प्रशिक्षित कर्मियों, सामुदायिक भागीदारी और इस समझदारी पर निर्भर करती है कि उपचार के साथ-साथ गरिमा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है।

डॉ. कुमार कहते हैं, "कर्नाटक की यह पहल महत्वपूर्ण है क्योंकि यह एक सहज सत्य स्वीकार करती है। इलाज जब असंभव हो जाता है, तब भी स्वास्थ्य सेवाएं समाप्त नहीं होतीं।" केरला में स्वयंसेवक रोज कितने ही घरों में जाते हैं, जरूरतमंदों को दवाइयां पहुंचाते हैं, उनके बिस्तर ठीक करते हैं और दिलासा देते हैं। उनके काम पर शायद ही कभी ध्यान जाता है। फिर भी हकीकत यही है कि यह देश में स्वास्थ्य सेवा की सबसे मानवीय अभिव्यक्तियों में से एक का प्रतिनिधित्व करता है।

राजगोपाल के लिए, इस आंदोलन के पीछे का दर्शन स्पष्ट है। वह कहते हैं, "किसी समाज का मूल्यांकन महज इस आधार पर नहीं होना चाहिए कि वह लोगों की जान कैसे बचाता है। उसका मूल्यांकन इस आधार पर भी होना चाहिए कि वह पीड़ितों की देखभाल कैसे करता है।" कर्नाटक इस मॉडल को अपनाने में सफल होता है, तो कोझिकोड में बिना शोर-शराबे के शुरू हुआ यह आंदोलन एक बार फिर भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य संबंधी सोच को नया आकार दे सकता है। ■

Nehru centre

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर
मुंबई के हृदयस्थल में,
बीकेसी से सटे,
एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तमः
- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051